आध्यात्मिकता का नया स्वरूप

हे मानव देख ! प्राची में उषा ने अपना प्राचीन आँचल उतार फेंका है। उसका मुख दिव्य रक्त कमल की भांति उद्भासित है। हर क्षण तप्त स्वर्ण की कांति दसों दिशाओं में विकीर्ण कर रहा है। अलसाई-सी, धीमे-धीमे बन्द दृगों को खोलती हुई वसुन्धरा के आँगन में नया सूर्य उदय हुआ है, जो अपनी स्वर्णिम रश्मियों से इसके आंगन को द्युतिमान कर रहा है। यह सूर्य दिव्य चेतना से चेतन है। इसके प्रकाश में मनुष्य हर वस्तु का नया स्वरूप, उसका आध्यात्मिक स्वरूप देखने में समर्थ होगा। यह सर्वज्ञ चेतना में उठनेवाले भागवत पुरुषों का कथन है। संसार के लिए उनका अमर संदेश है। कल आनेवाली संतति इससे लाभान्वित होगी। अपने जीवन को, वसुन्धरा के वातावरण को आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित करेगी।

— सुखवीर आर्य

आध्यात्मिकता का नया स्वरूप
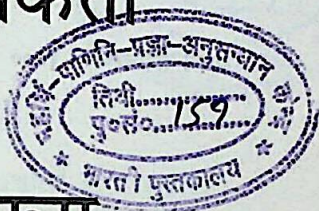
सुखवीर आर्य

श्रीअरविन्द चेतना धारा
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण – १०००

मुद्रक :
ऑल इंडिया प्रेस
पांडिचेरी

मूल्य : ५० रुपये

प्रकाशक :
श्रीअरविंद चेतना धारा
पांडिचेरी

प्रार्थना

हे प्रभो ! हमें तेरी कृपा प्राप्त हो। हमारे अंदर अभीप्सा की अग्नि प्रज्ज्वलित हो। ऐसा कर कि हमारे हृदय का आवरण दूर हो। आत्म-ज्योति से हमारा जीवन ज्योतिर्मय हो। हमारी सत्ता में जो भाग बंद हैं, वे उद्घाटित हों, जो सुप्त हैं वे जागें। हम पुराने स्वभाव से ऊपर उठें, आत्मा के स्वभाव को धारण करें।

हे प्रभो ! मनुष्य समझें कि जिस प्रकार का जीवन ये जी रहे हैं वह ठीक वही नहीं है जो इनके अंदर आत्मा चाहती है– जिस जीवन से इनके अंदर जागृति आयेगी, सत्य-असत्य का विवेक जगेगा, इनके हृदय का पर्दा हटेगा और ये आत्म-प्राप्ति की ओर सीधे अग्रसर होंगे। इन्हें समझना है कि आत्मा के विधान के अनुसार जीवन यापन करने से ही हम आत्मा का साक्षात्कार करने में सफल होते हैं। जीवन का आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरण संभव होता है।

अनुक्रम

आत्म-कथ्य

मेरी सभी पुस्तकों में मूल विषय एक ही है; चेतना का आरोहण, उसका विकास।

इन पुस्तकों में मैंने श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी के संदेश को, जैसा मैंने समझा, व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी अपने संदेश में मानव को अतिमानवता में उठने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। उसका पथ, उसकी प्रक्रिया समझाते हैं। उसकी संभावना प्रदर्शित करने के साथ-साथ उसे एक अवश्यंभावी प्रकरण मानते हैं। सृष्टि-विकास-क्रम में आगे आनेवाली, मानव-जाति में से विकसित होनेवाली नई जाति, अतिमानव जाति कह कर उसकी घोषणा करते हैं। इनके संदेश दिन-दिन विकसित होती हुई मानवता के वर्तमान स्तर की मांग के अनुरूप हैं। आज मानव जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति, आध्यात्मिकता के प्रचलित स्वरूप को भी उच्च प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति का, आत्म-चेतना की विशाल चरितार्थता का क्षेत्र देखना चाहता है। वह भूतकाल की उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं है। जीवन से पीछे हटने में, कर्म के त्याग में, संसार को माया की रचना, मायामय, स्वप्नवत समझने में अपनी व्यक्तिगत तथा जातिगत समस्याओं का समाधान नहीं देख रहा है। उसके अंदर एक अभीप्सा जाग रही है। उसने जो अब तक सुना है, अध्ययन किया है, उसका सत्य देखना, मन, शरीर

अहंकार से परे अपने सच्चे स्वरूप को जानना चाहता है। वह एक ऐसे समन्वयात्मक दर्शन की खोज में है जो जीवन को यथोचित मूल्य प्रदान करे। पदार्थों तथा प्राणियों का अंतर्निहित सत्य दर्शाये। ऊर्ध्व-चेतनाओं में आरोहण, 'उनका यहाँ पृथ्वी पर अवतरण संभव बनाना मानव-जीवन-लक्ष्य के रूप में चुने। जिसके द्वारा पदार्थों में छिपी दिव्यता प्रकट हो। उसमें मानव तथा उसका जीवन रूपान्तरित हो।

मनुष्य ने जो स्वरूप जीवन को प्रदान किया है, नई चेतना जो संसार में अवतरित हुई है, इससे संतुष्ट नहीं है। यह नई चेतना, अतिमानसिक चेतना है। श्रीअरविन्द ने इसे यही नाम प्रदान किया है। यह मानव जीवन में आत्मा की दिव्यता प्रवाहित देखना चाहती है। कामनाओं की पूर्ति में ग्रस्तता के स्थान पर हमें अंतस्थ देव के संकल्प की चरितार्थता में संलग्न देखना चाहती है। अगर हम वर्तमान जीवन-स्तर को पीछे नहीं छोड़ेंगे, उसमें जो तुच्छताएँ हैं उनसे ऊपर नहीं उठेंगे तो कैसे जीवन को ज्योतिर्मय बनाने में समर्थ होंगे। कैसे आत्मा की दिव्यता में उसका रूपान्तरण संभव होगा!

कहीं-कहीं मेरी आत्मा के उद्‌गारों की झलक भी दिखायी देती है। जब वह दिव्य चेतना के प्रभाव में होती है तब व्यक्तिगत उपलब्धियों को भूल कर, मानवता हित स्वर्गिक द्वारों को खोलने के लिए प्रभु-द्वार खटखटाती है। सब शर्तों को पूरा करने का प्रण करती है। बलिवेदी सजाकर बलिदान करने को उद्यत खड़ी

दिखायी देती है। उन उद्‌गारों में लक्षित प्रेरणा का स्वरूप प्रायः यही होता है कि कैसे भी मानव तथा अतिमानव .के बीच सेतु निर्माण करना है, सेतु बनना है। मानव को उसकी स्वाभाविक मानवता के स्थान पर अतिमानवता प्रदान करनी है। जगत को आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित देखना है।

वह स्वर्णिम दिवस संसार शीघ्र ही देखेगा जब मानव मात्र जागेगा। आत्म-विकास के पथ पर बढ़ेगा। सामान्य स्तर से ऊपर उठेगा। उच्च चेतनाओं में विचरण करेगा। दिव्य जीवन में निवास को अपने लक्ष्य के रूप में चुनेगा। प्रभु को समग्र सत्ता का समर्पण उसका पथ होगा। हृदय का पर्दा हटेगा। अंतर आवरणहीन होगा और सब ज्योतिर्मय हो उठेगा।

हे प्रभो ! हे दयानिधे ! तेरी स्वर्णिम शांति सबको प्राप्त हो। सब सुपथ पर चलें। आत्म-भाव से भरे प्रेम में डूबे रहें। परस्पर मिलन में, व्यवहार में अभिव्यक्त करें। मानव चेतना में सचेतनता की वृद्धि हो। सब में देवत्व जागे। अहंकार विलीन हो। सब आत्म-चेतना में उठें, आत्म-सत्य में निवास करें। सबको सुबुद्धि प्राप्त हो। सबका मंगल हो।

सुखवीर आर्य
श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

स्वर्णिम कुंजी

हमें सचेतन बनना है। अचेतनता से बाहर आना है। श्रीमाताजी ने कहा " सचेतन बनो। सचेतन बनना ही योग है।" सचेतन बनने से, बाहर-भीतर सत्ता के हर स्तर पर अधिक से अधिक सचेतन रहने से हमें वह स्वर्णिम कुंजी प्राप्त होती है जिसके द्वारा हम आंतरिक सत्ता के सब द्वार खोल सकते हैं। विभिन्न स्तरों पर कार्य कर सकते हैं। सुप्त शक्तियों को जगा सकते हैं। आध्यात्मिक स्तर पर सचेतनता पूर्वक प्रथम पग बढ़ाते ही हमारा परिचय चैत्य पुरुष से होता है। उसके साथ सतत संबंध बनाने में हम समर्थ होते हैं।

हमें चाहिये कि हम जितना शीघ्र हो अपने तथा वस्तुओं के सत्य स्वरूप को खोजें। बाह्य रूप को ही सब कुछ न मानें। आत्म-अज्ञान से, पृथकत्व के भाव से बाहर आएँ। आत्म-ज्ञान में अर्थात्, परम एकत्व में अपनी चेतना को स्थित करें। अतिमानसिक चेतना जो पृथ्वी पर अवतरित हुई है, उसकी ओर अपने आपको उद्घाटित करें, उसका अवतरण अपनी संपूर्ण सत्ता में संभव बनायें।

मन को सब ओर से एकत्रित करना भी साधन-क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कर्म है। जिन वस्तुओं में वह इस समय रस लेने का अभ्यासी है, जिन तुच्छ-सी कामनाओं की पूर्ति में दिन-रात एक किये रहता है – जिनका हमारे आत्म-विकास के साथ कोई संबंध नहीं, आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान

नहीं उनकी निस्सारता उसे समझानी है। उसे समझाना है कि किसी भी प्राप्ति के लिए एकाग्रता का होना प्रथम शर्त है। दस दिशाओं में छितरी चेतना कभी कोई सार्थक परिणाम प्राप्त नहीं कर सकती।

सत्ता के हर स्तर पर सचेतन बनने के लिए एकाग्रता का होना अनिवार्य है। सचेतन व्यक्ति सदैव एकाग्र होता है। पूर्ण एकाग्रता की स्थिति में ही हम सत्ता की हर गतिविधि जानने में, उसे नियंत्रित करने में सफल होते हैं। ज्यों-ज्यों हमारे अंदर एकाग्रता की वृद्धि होती है, हमारी सत्ता में सही व्यक्तित्व का निर्माण प्रारंभ हो जाता है।

जब सारी सत्ता में आत्म-दर्शन की प्यास जागती है, दीपक की लौ की भांति उसकी गति ऊर्ध्वमुखी होती है, जब एक बार खींची गई साधन-धनु की प्रत्यंचा ढीली नहीं होती, तब हमारे जीवन-आँगन में स्वर्णिम सूर्य उदय होता है। उसके प्रकाश में हमारे जीवन-मार्ग प्रकाशित रहते हैं। हम प्रभु-संकल्प के प्रति सचेतन होते हैं। उसकी अभिव्यक्ति हमारे जीवन का स्वरूप होता है।

* * *

सावधान ! रे मन ! सावधान ! सचेतन बन ! समय कम है। कुछ जीवन में सार्थक कर! मुक्त चेतना की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो। भीतर पैठना सीख ! तू सुखी होगा।

प्रभु की प्यारी संतान

जहाँ आंतरिक सत्य ही प्रेरक हो, चालक हो, आत्मा के विधान के अनुसार सब व्यवस्थित हो, 'उसी की अमिश्रित अभिव्यक्ति हो, ऐसे जीवन को पृथ्वी पर देखने, उसके स्वप्न सजाने, उसे मानव-मात्र के लिए सुलभ बनाने के लिए, हर संभव प्रयास करना, जिनके जीवन का लक्ष्य बन चुका है, वर्तमान अज्ञान और अंधकार से भरे, अहंकार से चालित जीवन के स्थान पर एक दिव्य, ज्योतिर्मय, आत्म-विधान से चालित जीवन जो जीना चाहते हैं, उसे मानव मात्र के लिए संभव बनाना चाहते हैं उन्हें ही नई चेतना स्वीकार करती है, उनमें ही अवतरित होती है, और उन्हें ही अपना यंत्र चुनती हैं। वे प्रभु की प्यारी संतान हैं। संसार के लिए अपने जीवन का, मानवता के सुख के लिए अपने सुखों का स्वाहा करने को सब समय तत्पर हैं। उनका ध्यान अपने व्यक्तिगत जीवन की ओर कम, मानव जीवन की ओर अधिक रहता है। जगत-जीवन के उत्थान को, उसके दिव्यीकरण को वे सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हैं, कारण जब-जब वे अंतर्मुख होते हैं, जब-जब अंतस्थ देव के चरणों में बैठते हैं, उन्हें यही प्रेरणा, यही आदेश प्राप्त होता है, यही वाणी, यही ध्वनि वहाँ गूँजती है, इसी की प्रतिध्वनि। "सर्वभूतः हितेरता" गीता का महावाक्य, उनका जीवन आदर्श होता है।

जीवन का स्वरूप

हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा उद्देश्य भूतकाल में उपलब्ध आदर्शों को दुहराना अथवा उन्हें संशोधित कर, कुछ हेर-फेर के साथ, स्वीकार करना नहीं है; वरन् अतिमानसिक चेतना की अभिव्यक्ति को जीवन के हर क्षेत्र में अधिकाधिक संभव बनाना, उसे मूर्त्त रूप प्रदान करना है। अतिमानसिक चेतना मनुष्य को एक नयी दृष्टि प्रदान करती है जिसमें जगत माया की रचना अथवा मिथ्या आकारों का एक प्रवाह मात्र प्रतीत नहीं होता, आत्मा की अभिव्यक्ति दिखाई देता है। जीवन का अभिप्राय भोग नहीं, आत्म-विकास है। उसका लक्ष्य इच्छाओं की पूर्ति नहीं, अंतस्थ आत्मा की प्राप्ति है। संसार में कष्टों को देख कर उनसे घबराना और इसीलिए उसे त्यागना नहीं, वरन्, त्याग की भावना के स्थान पर उसे परिवर्तित करने का भाव, ऊँचे स्तर पर उठाने का संकल्प, अपने अंदर जगाना है। मानव जीवन की क्षणभंगुरता, प्रकृति के नियमों की कठोरता देख कर पलायन अथवा संन्यास का भाव अपनाना नहीं है कारण, अगर हम जीवन-क्षेत्र को इस प्रकार छोड़ देते हैं, तो इसका अर्थ होगा अज्ञान और अंधकार की शक्तियों के लिए, उनके शासन के लिए, उन्हें सुविधा प्रदान करना, उन्हें क्षेत्र सौंप देना– जहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी मनमानी कर सकें और पार्थिव वातावरण को बीभत्स बनाने में सफल हो सकें; इसके विपरीत इसे दिव्य

बनाने का प्रयास करना है। इसमें उच्च चेतनाओं का अवतरण संभव बनाना है और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो सब प्रकार का बलिदान करने के लिए तत्पर रहना है।

अतिमानसिक चेतना मानव-जीवन को एक उच्च, आध्यात्मिक धरातल पर उठाने में समर्थ होगी। जिसमें आत्मा की दिव्यता का प्रवाहित होना स्वाभाविक होगा।

श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी की शिक्षा में हम देखते हैं कि मनुष्य के जीवन का सही स्वरूप वही है जिसमें आत्मा का संकल्प अभिव्यक्त हो। आंतरिक सत्य प्रवाहित हो। जिसमें सत्ता की हर गतिविधि, हर कर्म भागवत इच्छा पर आधारित हो, उस पर निर्भर हो। जिसमें सब कुछ, छोटी से छोटी क्रिया भी, समर्पण के भाव का मूर्त्त रूप हो। जहाँ आत्म अभिव्यक्ति की अभीप्सा, सत्ता के दिव्यीकरण का संकल्प सर्वोपरि हो। अर्थात् हमारे जीवन-यज्ञ-कुण्ड का हर कोना, अभीप्सा, संकल्प तथा समर्पण रूपी समिधाएँ अग्नि रूप होकर जगमगा रही हों।

——

आत्म-साक्षात्कार मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। आत्मा उसका सच्चा स्वरूप है। जब वह चाहे, एक गहन एकाग्रता के द्वारा, बाह्य सत्ता से पीछे हटकर उसे प्राप्त कर सकता है। किन्तु आत्म-साक्षात्, आध्यात्मिक अनुभूति शृंखला में अंतिम नहीं है, प्रथम है। प्रारंभिक है। अभी भी परम अस्तित्व की अन्य अवस्थाओं में प्रवेश, जो कि एक महान पुरुषार्थ की, सर्वांगीण समर्पण की मांग करता है, हमारी पहुँच के परे है।

अभीप्सा का स्वरूप

हर व्यक्ति में दिव्य संभावनाओं का बीज निहित है और उन्हें अंकुरित करना, वर्धित करना मनुष्य का पहला कर्तव्य है। जब हमें यह भली-भांति अवगत करा दिया गया है कि एक भागवत उपस्थिति हमारे अंदर है, जो हमारे जीवन का जीवन है, चेतना की चेतना है, हम उसी के अंश हैं, हमारा अस्तित्व उसी से है, तब क्या कारण है कि हमने अभी तक उसे नहीं खोजा, उसे प्राप्त नहीं किया, हम उसके नहीं हो पाये।

हमें अपने ऊपर दृष्टिपात् करना है और अपने आपको संबोधित करते हुए कहना है, "कैसा पुत्र हूँ मैं, पिता से दूर हूँ और उसके समीप पहुँचने की अभिलाषा मेरे हृदय में नहीं है। मैंने अपने पिता को नहीं देखा, उसका प्रेम प्राप्त नहीं किया, उसकी सेवा नहीं की, फिर कैसे मैं खान-पान में, सुख-भोग में व्यस्त रहता हूँ। कैसे मुझे नींद आती है, कैसे मैं कुछ और सोच सकता हूँ, अन्य कुछ कर सकता हूँ ! क्या मैं जीवन के दिन व्यर्थ नहीं गुजार रहा हूँ ! मैं अपने सच्चे स्वरूप के विषय में अनभिज्ञ हूँ। आत्म-सत्य से दूर हूँ। क्या यह अपने आपमें एक महान क्षति नहीं है ! जिसकी पूर्ति में जन्म लग सकते हैं।"

हमें बताया गया है कि हमारी सत्ता का तथा जगत सत्ता का मूलभूत सत्य परमात्मा है। जो हमारे हृदय में निवास करता है। जिस पर इस समय पर्दा है। इस पर्दे के निर्माता हम हैं। हमारे कर्मों के कारण ही परमात्मा हमसे दूर है। हम इस तथ्य के प्रति अचेतन

हैं। इसकी अवहेलना कर रहे हैं। दूसरी ओर, विषय-व्यसनों में ग्रस्त हैं, जिसका अर्थ है अंधकारपूर्ण मार्गों पर भटकन।

आखिर कब जागेंगे हम ! कब वह स्वर्णिम क्षण होगा जब एक अदम्य अभीप्सा हमारे मन, हृदय को अधिकृत करेगी। जिसकी तीव्र वेदना हमें तब तक झकझोरती रहेगी जब तक आत्मा और हमारे बीच का पर्दा फाड़कर दूर नहीं फेंक देंगे।

आएँ ! हम मिलकर जागें ! कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ें। वसुधा रूपी अपने इस परिवार को सही दिशा में मोड़ प्रदान करने का प्रयास करें। परम सत्य की खोज को, उसकी अभिव्यक्ति को अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनें। उसके द्वारा अपने जीवन को और साथ ही मानव मात्र के जीवन को सुखी तथा समृद्ध बनायें।

प्रभु कृपा उन सब के साथ है जो आत्मा के द्वारा निर्धारित पथ का अनुसरण करते हैं।

हमारे अंदर आत्म-दर्शन की भूख जितनी अधिक बढ़ती है, उतने ही हम इंद्रियों के व्यापारों के प्रति अनासक्त हो जाते हैं, खान-पान में चाव, भोगों में आकर्षण, विश्राम की चाह कम हो जाती है। हमारा हृदय लोभ, मोह, आसक्ति, घृणा तथा द्वेष को त्याग कर एक स्वच्छ, निर्मल मंदिर का रूप ग्रहण कर लेता है। द्वन्द्व शांत हो जाते हैं। मन ऊर्ध्व चेतना की ओर उद्घाटित रहने लगता है, जिसके प्रकाश में स्वार्थ भावना, महत्वाकांक्षा आदि मानव-स्वभाव की दुर्बलताएँ हमें स्पर्श नहीं कर पातीं।

भीतर डुबकी

समय आता है और हमारा मन भीतर, हृदय में डुबकी लगाने के लाभ को समझने लगता है। वह संसार की क्षण-भंगुर वस्तुओं में नहीं भटकता। यह तथ्य उसकी समझ में भली प्रकार आ जाता है कि चंचलता में उसकी शक्ति का ह्रास होता है। चंचल मन कभी सही निर्णय लेने में समर्थ नहीं होता। उसके पास वस्तुओं में अंतर्निहित सत्य देखने की दृष्टि नहीं होती। वह भीतर नहीं झांक सकता। मन को दृष्टि केवल भीतर स्थित होने से प्राप्त होती है और उसके लिए उसे शुद्ध, शांत, एकाग्र तथा निरभिमानी होना होता है। हमारे हृदय की गहराई में आत्मा की दिव्यता तथा नीरवता के सिंधु हैं। मन जितनी बार वहाँ डुबकी लगाता है, इनकी कुछ बूँदें लेकर लौटता है और उन्हें जीवन-आँगन में छिड़कता है। हमारा जीवन, हमारे भाव, विचार तथा कर्मों में दिव्यता की झलक मिलने लगती है।

एक शुद्ध, निर्विकार व्यक्तित्व जिसकी चेतना विशाल तथा ज्योतिर्मय हो, जो जातीय तथा धार्मिक सीमाओं के द्वारा अधिकृत नहीं है, संसार में भागवत चेतना का यंत्र होने का अधिकारी होता है। भागवत चेतना उसमें अवतरण करती है। संसार में उसे अपने कर्म के लिए चुनती है और उसके द्वारा पृथ्वी पर अपना दिव्य लक्ष्य साधित करती है।

लक्ष्य से दूर

हममें से कुछ हैं जो यह समझते हैं कि हमारे जीवन का जो स्वरूप आज है, जिसे हमारा वर्तमान व्यक्तित्व अपनी कुछ कामनाएँ लेकर यापन कर रहा है – जिसमें न आत्मा का संकल्प है न उसका प्रकाश, सब चुनाव हम करते हैं, निर्णय हम लेते हैं – इस प्रकार के जीवन में बिना कुछ परिवर्तन लाये, बिना इससे ऊपर उठे, हम गंतव्य पर अर्थात् आत्म-विकास की उच्च भूमिकाओं पर पहुँच जायेंगे। यह एक भ्रांति है। अगर हम अपनी चेतना में परिवर्तन नहीं लाए, अपने स्वभाव को नहीं बदले, जो चीजें अंतर्सत्य से दूर रखती हैं, उनका त्याग नहीं किया, वरन्, इसके विपरीत उन्हें पकड़े रहना चाहते हैं, अपनी सत्ता का अंग मानते हैं, तो समझ लें अभी हम लक्ष्य से दूर हैं। हमें अपने अंदर एक अत्यंत तीव्र अभीप्सा जगानी है। समर्पण के भाव को जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करना है। जिसमें सारा जीवन अंजलि रूप होकर प्रभु को समर्पित हो जाए।

जीवन की यह अंधी भाग-दौड़, कामनाओं की पूर्ति का नशा, इंद्रिय सुख-भोगों में तृप्ति की खोज, हमारे अहंकार से प्रेरित एक निरर्थक चेष्टा है। मन में तृष्णा, हृदय में वासना लिए हम जीवन की राहों पर लंबे डग भरते, गिरते-पड़ते सरपट दौड़े चले जा रहे हैं। अपनी धुन में डूबे हैं, पूर्ण ग्रस्त हैं। कहाँ जा रहे हैं हम नहीं जानते। क्यों जा रहे हैं इसका भी हमें पता

नहीं। बस, चले जा रहे हैं। हम इतना ही जानते हैं कि हमें चलना है, हमें ठेला जा रहा है। हम रुक नहीं सकते। यह हमारी शक्ति से बाहर की बात है।

हे मानव !'सोच ! जरा विचार कर देख ! तेरे पूर्वजों ने तुझे सुखी देखने के लिए, सच्चा सुख प्रदान करने के लिए, आत्मा की मुक्त चेतना में उठाने के लिए, कितना श्रम किया है। तेरे मंगल के लिए कितने शास्त्र रचे हैं, कितने पथ प्रशस्त किये हैं। क्या तू उनके श्रम को सार्थक नहीं करेगा ! उठ और संकल्प ले। व्यर्थ चेष्टाओं में ग्रस्त रहना छोड़ दे। अहंकार की चालों को, इंद्रियों के प्रलोभनों को पहचान, इनका त्याग कर और आत्म-सत्य की प्राप्ति, उसका दर्शन जीवन-लक्ष्य के रूप में चुन। तेरा मंगल होगा।

हमारे अंदर हमारा चैत्य पुरुष ही सच्चा व्यक्ति है। वह संसार में विकास के लिए, अपने मूल स्वरूप की प्राप्ति के लिए अवतरित होता है। जीवन को क्या स्वरूप प्रदान करना, पथ कौन-सा चुनना, यह उसका कार्य है। हमें यह कार्य अपने मन, बुद्धि अथवा अहंकार को प्रदान नहीं करना चाहिये। ये यंत्र हैं जिन्हें हमारा चैत्य पुरुष अपने विकास के लिए धारण करता है। हमें इनकी इच्छाओं के अनुसार, इनकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन-मार्गों पर अग्रसर नहीं होना चाहिये। यह भटकन है।

दृश्य एवं द्रष्टा

हमें बताया गया है – संसार में दृश्य बदलते हैं किन्तु द्रष्टा वही रहता है। प्राचीन भग्न होते हैं, नये भवनों का निर्माण होता है। पुराने वृक्ष गिरते हैं, उनका स्थान नये उद्यान ग्रहण करते हैं। जो चेहरे चले गये उनका स्थान नई आकृतियाँ लेती हैं। मानों संसार एक सराय है, हर दिन पुराने अतिथि जाते हैं, नये आते हैं। सराय का प्रबंधक सब देखता है, मानों देखना ही उसका काम हो। आकाश के नीचे, इस धरती के तल पर सब कुछ बदलता है सिवाय द्रष्टा के। वह कभी नहीं बदलता। आह्लाद भरे हों या दर्द भरे, सभी दृश्यों को वह अपनी तटस्थ दृष्टि से देखता है। सृष्टि-मंच पर ऐसे दृश्य भी उभरते हैं जिन्हें देखकर द्रष्टा के हृदय में कारुण्य उमड़ता देखा गया है और वह हस्तक्षेप करता है। वह चाहे तो दृश्यों में परिवर्तन कर सकता है। कारण, वह द्रष्टा मात्र ही नहीं है। वह दृश्यों का निर्माता भी है। वह सर्वभूत का आत्मा है। इस जगत के अस्तित्व का मूल कारण है। यह जगत उसके संकल्प की चरितार्थता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है, वह घटनाओं में परिवर्तन नहीं लाता, जो होने जा रहा है उसे होने देता है और संसार में विनाशकारी घटनाएँ घटित होती हैं। भूकम्प तथा बाढ़ आदि आते हैं। अगर वह उन शक्तियों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता और विनाश होने देता है, तो ऐसा क्यों ? हर युग में यह मानव जाति की समस्या रही है। जिसके

समाधान की मांग आज का मानव, प्रचलित दर्शन शास्त्रों से कर रहा है। उसके लिए यह असह्य हो उठा है।

इसका उत्तर द्रष्टा के, सृष्टिकर्ता के पास ही मिलना चाहिये। दूसरा कोई इसका सही उत्तर देने में समर्थ नहीं है। शास्त्र अवश्य कुछ मिली-जुली-सी बातें करते प्रतीत होते हैं और इस सब के मूल में मानव-कर्मफल-भोग को कारण बताते हैं। वे मानव-बुद्धि को पर्याप्त रूप में संतुष्टि प्रदान करने की, उसके प्रति सहानुभूति जताने की चेष्टा करते हैं। किन्तु तथ्य के विषय में "यही है, इतना मात्र ही है" यह कहने का दावा करने से पीछे हटते हैं। मानव आत्मा की सांत्वना के लिए वे इतना अवश्य कहते हैं– "यहाँ वह सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर अकेला ही है। वही था, वही रहेगा। विश्व उसका क्रीड़ा-क्षेत्र है। यहाँ सब उसका खेल है। वह जैसे चाहे खेले। सृष्टि उसकी लीला है। पृथ्वी उसका लीलाधाम है। सब ओर से, सब प्रकार यहाँ वह एक ही है। अगर कष्ट भोगता है तो वही और आनंद भोगता है तो भी वही। कोई कुछ नहीं कह सकता। कोई हो तो कहे भी। यहाँ या वहाँ किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है।"

मानव मन-बुद्धि के लिए समस्या की गुत्थी सुलझती नजर नहीं आ रही है। युग बीत गये। आज भी वैसी ही है। मनुष्य है तो वह अपने होने का दावा करेगा। कर रहा है। वह कैसे माने कि वह नहीं है। उसका अस्तित्व नहीं है। अतः वह एक ऐसे दर्शन की खोज को अपने जीवन-लक्ष्य के रूप में अपनाना

चाहता है जो मूल अस्तित्व के साथ उसके अस्तित्व को भी मान्यता प्रदान करे। इसे स्वीकार करे, इसे नकारे नहीं। इसे मिथ्या न कहे। उस एकमेवाद्वितीयम् के साथ जीवात्मा तथा जगत के अस्तित्व को, उनकी सत्यता को भी स्वीकार करे। एकत्व में बहुत्व को तथा बहुत्व में एकत्व को स्थान प्रदान करे। एक ऐसी समग्र दृष्टि वह प्राप्त करना चाहता है जिसमें परमार्थ तत्व के साथ उसकी अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि को भी औचित्य प्रदान किया जाये, इसका सत्य उसे दर्शाया जाये। हम मूल सत्य उस परम अस्तित्व को मानें किन्तु साथ-साथ जीव तथा जगत को भी मान्यता प्रदान करें। उन्हें मिथ्या न कहें। ब्रह्म के साथ अन्य पदार्थों को भी सत्य मानें। कम से उतना सत्य अवश्य मानें जितना अपेक्षित है। अगर हम ब्रह्म को मूल सत्य मानते हैं तो इस तथ्य को भी नकार नहीं सकते कि जगत उसका अभिव्यक्ति रूप सत्य है, होना ही चाहिये।

स्वर्णिम युग की पहली-पहली आभामय ऊषा के उज्ज्वल आँचल के नीचे वसुन्धरा का शुचि आंगन ज्योतिर्मय गोचर हो रहा है। कितनी सहस्राब्दियों के पश्चात् मनुष्य का आंतरिक मन आज प्रसन्न है। उसका हृदय आह्लादित है। उसे एक नई चेतना में आरोहण की, उसके यहाँ पृथ्वी पर, मानव-जीवन में अवतरण की निश्चयता दर्शायी जा रही है। उसकी प्राप्ति मनुष्य जाति के लिए संभव हुई है। जो उसकी सीमित अज्ञानजनित मानसिक चेतना का एक दिव्य ज्योतिर्मय असीम सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ चेतना में उत्थान, उसमें रूपांतर संभव

करेगी। नई चेतना, भागवत चेतना, जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक चेतना कहा है, दर्शन में एक नया मोड़ है जो उसे अपने प्राचीनतम ज्ञान में, उस दृष्टिकोण में स्थित कर देता है जो कि हमारे पूर्वजों का, वैदिक ऋषि-मुनियों का सदैव रहा है। दर्शन का यह नया दृष्टिकोण, नया स्वरूप – जिसे हम समग्र दृष्टिकोण कह सकते हैं – ब्रह्म और जगत दोनों के सत्य को, उनके भिन्न स्तरों पर पूर्ण औचित्य प्रदान करता है। जहाँ उनके मौलिक सत्य के साथ हम उनके संबंध को भी भली-भांति समझते हैं।

अंतर्दृष्टि खुलते ही हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर एक भागवत उपस्थिति है जो हमें देख रही है। हम उससे घिरे हुए हैं। किन्तु आश्चर्य ! जब-जब हम अपने भीतर झांकते हैं तो यही उपस्थिति वहाँ भी पाते हैं और वहाँ भी हमें देख रही है। हम आकाश की ओर ताकते हैं और सर्वत्र इसे ही पाते हैं। सारा आकाश इससे भरा देखते हैं। हमारे लिए पदार्थों तथा प्राणियों का रूप बदल जाता है। जड़ प्रतीत होनेवाली वस्तुओं में भी हम एक दिव्य पुरुष को अपनी ओर निहारते पाते हैं।

नया युग – उसकी मांग

कल तक हमने जो पाया, जो भी हमारी उपलब्धियाँ थी, यही सब कुछ नहीं है। उपलब्धियाँ और भी हैं, इनसे ऊँची भी हैं। चेतना के जिन स्तरों को हमने पाया, इतने मात्र ही नहीं हैं। स्तर और भी हैं। असंख्य हैं। उनका वर्द्धमान होता हुआ क्रम, विकास के शिखरों को स्पर्श करता हुआ प्रतीत हो सकता है। किन्तु विकास की ऊर्ध्वमुखी धारा अनंत है।

आज हम एक नये युग में, स्वर्णिम युग में प्रवेश कर रहे हैं। यह घड़ी युगान्तर की है। प्राचीन पीछे छूट रहा है। नवीन, अतिमानसिक युग, जिसे स्वर्णिम युग कहने में हम आंतरिक प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वसुन्धरा के वातावरण में प्रवेश पा रहा है। हमें चाहिये कि इस अभूतपूर्व भव्य वेला में, अपनी चिंतन-धारा को विस्तृत करें। और ऊँची उठायें। अपने हृदय के द्वार खोलें, उसे विश्व-प्रेम से भरपूर करें। धार्मिक तथा जातीय सीमाओं का अतिक्रमण कर मानव मात्र को आत्मा का सखा मानें। आत्मीयता के आलिंगन में संपूर्ण मानवता को बांधें। खोखली मान्यताओं से बाहर आयें, प्रत्यक्ष अनुभव को विचारों का आधार बनायें। युग की मांगों के अनुसार अपने स्वभाव में नमनीयता लायें। विकसित होती हुई मानवता के साथ अपने दर्शनों को भी विकसित करें। शास्त्रों के मौलिक सत्य को अपरिवर्तित रखते हुए, उनके व्यावहारिक पक्ष में यथोचित हेर-फेर करें, नये क्षितिजों का प्रवेश संभव बनायें। जीवन के

प्रति नया दृष्टिकोण अपनायें, जो कि जीवन के त्याग में नहीं उसे समृद्ध बनाने में, आध्यात्मिक स्तर पर उठाने में सच्ची सफलता मानता है। मानव मात्र का चेतना-स्तर नये आलोक में सजाने-संवारने में पुरुषार्थ की सार्थकता समझता है।

पृथ्वी पर अवतरित होती हुई अतिमानसिक चेतना के प्रति अगर आज हम सामूहिक रूप में सचेतन बनें, इसके आलोक में जीवन-मार्गों पर अग्रसर हों, तो अवश्य संसार में भगवान का राज्य स्थापित हो सकेगा। धरती का कोना-कोना शांति तथा सामंजस्य से भर उठेगा। संपूर्ण मानव-जाति में इस चेतना के प्रति उद्घाटन ही वह कर्म है जिसके द्वारा संसार अपनी सब समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकता है। इसके प्रति ग्रहणशीलता का भाव ही हमें ज्ञान तथा अज्ञान के मिश्रित वर्तमान जीवन-स्तर से ऊपर उठाने में समर्थ होगा। तभी मनुष्य की चेतना उत्थान लाभ करेगी। संसार का रूपांतर, अर्थात् पृथ्वी पर दिव्य जीवन संभव हो सकेगा।

अपने सामने ऊँचे से ऊँचा आदर्श रखना अति सरल, अति सुन्दर कर्म है। किन्तु संसार में एक आदर्श पुरुष बनना अत्यंत कठिन कर्म है और एक महान त्याग की मांग करता है।

जीवन मूल्य समझें

अगर हम अपने ढंग से जीवन जीते हैं, एक पृथक् अज्ञान जनित अहमात्मक चेतना में निवास करते हैं, अगर हमारे अंदर इच्छाएं उठती हैं, झुंझलाहट आती है और कुछ चीजें कड़वाहट उत्पन्न करती हैं, निम्न स्तर की प्रतिक्रियाएं, इंद्रियों के आवेग हमें प्रभावित करते हैं, अगर हम अभी भी स्वभाव जनित दुर्बलताओं के शिकार होते हैं, इसका अर्थ है, हम एक समर्पित व्यक्ति का जीवन नहीं जी रहे हैं। हमें इस तथ्य के प्रति सावधान हो जाना चाहिए कि, पार्थिव जीवन रूपांतर का जो महान कार्य विश्व के सम्मुख, अतिमानसिक चेतना के द्वारा वर्तमान विकास-धारा के रूप में उपस्थित है, उसके लिए हमें नहीं चुना जा सकेगा। नई आगामी उपलब्धि के लिए अर्थात् शारीरिक रूपांतर के लिए हमें सौभाग्य प्रदान नहीं किया जाएगा। अतिमानवों की प्रथम पंक्ति में हमारा स्थान नहीं होगा।

हमें एक बार फिर गहराई के साथ सोचना हैं जीवन के मूल्य को समझना है। इसे सारहीन निरर्थक वस्तुओं में न गवांकर आत्म-उपलब्धि एवं आत्म-अभिव्यक्ति का आधार बनाना है। इस अनुभव पर पहुँचना है कि आत्म-अभिव्यक्ति ही जीवन को सच्चा अर्थ प्रदान करती है। समर्पण का भाव ही संसार में आत्मा के लिए परम सुखदायी है।

अहं-केन्द्रित

हर मनुष्य अपने सीमित अहंमय व्यक्तित्व के अंदर बंद है। यह अज्ञान की अवस्था है। हमारा अहंकार, हमारी स्वार्थ-भावना इसमें कारण है। हम देखेंगे कि हमारा हर विचार अहं-केन्द्रित होता है। कुछ भी करने जायें, सबसे पहले हम अपने विषय में सोचते हैं। हर घटना के मध्य में अपने आपको केन्द्र बनाकर, व्यक्तिगत लाभ को दृष्टि में रखकर जीवन मार्गों पर अग्रसर होते हैं। जब तक हमारे अंदर अहंकार है, स्वार्थ-भावना को दृष्टि में रखकर दूसरों के साथ व्यवहार करते हैं, तब तक आत्मा की विशाल चेतना में हमारा निवास संभव नहीं होता, जो कि हमारी सत्ता का आध्यात्मिक सत्य है। जितना हम स्वार्थ-भावना को त्यागते जायेंगे उतना ही क्षुद्र व्यक्तित्व-रूपी घट का ढक्कन ढीला होता जायेगा और एक दिन पूरा खुल जायेगा। व्यक्ति-सीमा का अतिक्रमण कर विश्व-चेतना में हमारा निवास संभव होगा। सब युक्ति तर्कों के परे यथार्थता यह है कि जीवन एक है, चेतना एक है, जिस तत्व से हमारे शरीर निर्मित होते हैं वह भौतिक तत्व एक है। यहाँ जो है सब एक आत्मा का विस्तार है।

मैंने ऐसे व्यक्तियों को देखा है, जैसे ही उनकी चेतना इस उच्चतर ज्ञान के सम्पर्क में आती है, वे क्रंदन कर उठते हैं। उनके भीतर कोई उन्हें झकझोरता है।

आध्यात्मिक जीवन

जब तक मनुष्य अपने आपको पूर्ण रूप से नहीं जानता, उसे अपनी संपूर्ण सत्ता का ज्ञान नंहीं है, जब तक वह अपने आंतरिक भागों के साथ तादात्म्य लाभ नहीं करता, उनकी दृष्टि से जगत में स्थित पदार्थों तथा प्राणियों को नहीं देखता, तब तक वह प्रकृति की शक्तियों के हाथ का खिलौना है, गुणों से प्रभावित होना, आवागमन के चक्र से बंधा रहना उसकी नियति रहेगी। जीवन में दुख-कष्ट बने रहेंगे। आत्मा की मुक्त चेतना में निवास एक सुखद स्वप्न बन कर रह जाएगा।

हमारे अंदर एक ज्योतिर्मय पुरुष है जिसका व्यक्तित्व दिव्य है। यही हमारा सच्चा स्वरूप है। हमें अपने यंत्रों को – मनोमय, प्राणमय, अन्नमय पुरुषों को – उसकी ज्योति में रूपान्तरित करना है। इनके द्वारा उसे अपने स्वभाव में, जीवन में, अभिव्यक्त करना है। इस रूपान्तर को सिद्ध करने की अभीप्सा हम मानव आत्मा में देख रहे हैं। वह जीवन के वर्तमान स्वरूप से संतुष्ट नहीं है। इसमें घुटन अनुभव करती है। कारण, इस जीवन में न आत्म-सत्य है, न आत्म-चेतना। न दिव्यता है न प्रकाश। अहंकार की कुछ तमसिल इच्छाओं की पूर्ति ही पृथ्वी पर मानव जीवन का स्वरूप है। कम ही ऐसे हैं जिनके सम्मुख उच्च वेदोक्त आदर्श हैं, जिनके कर्मों की प्रेरक उनके भीतर स्थित आत्मा है।

आज मानव हृदय में एक नई चेतना जाग रही है। वह अपने यंत्रों को अपनी सत्ता का भाग मानता है। आत्मा की दिव्यता में इन्हें रूपान्तरित देखने का स्वप्न उसकी आंखों में है। वह एक नये दर्शन की मांग कर रहा है जो दर्शन व्यक्तित्व के साथ-साथ जीवन को भी आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित करने में समर्थ हो। इसे आत्मा की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करे, इसमें उत्थान लाये, इसके हर कोने को प्रकाशमान करे। आध्यात्मिकता के एक ऐसे नये स्वरूप को साकार करने की कल्पना वह अपने हृदय में पोषित कर रहा है, जो जीवन को स्वीकार करे, उसे नकारे नहीं। उसे आलिंगन करे, उसका त्याग नहीं। उसे प्रभु की देन समझे, एक अभिशाप नहीं। उसके हर कोने को ज्योतिर्मय बनाये। मानव-जीवन-स्तर आत्मा की मुक्त चेतना में उठे। उसमें आत्म-सत्य प्रवाहित हो। किसी प्रकार की क्षुद्रता के लिए, अहंजनित स्वार्थपरता के लिए, व्यक्तिगत लाभ के लिए वहाँ कोई स्थान न हो। उसका स्तर सब प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर हो। आत्मा की विशाल चेतना उसमें निर्बाध गति से प्रवाहित हो। जीवन-स्तर को व्यक्तिगत हानि-लाभ की गणना से ऊपर उठाये। जिसमें हर श्वास लोक हित के लिए हो।

पृथ्वी पर व्यष्टि तथा समष्टि जीवन को एक नया स्वरूप प्रदान करने के लिए, एक उदात्त, प्रकाशमान, आत्म-सत्य से ओत-प्रोत जीवन संभव बनाने के लिए हमें नये प्रकार की आध्यात्मिकता की खोज करनीं होगी। जो सृष्टि में उत्पन्न पदार्थों एवं प्राणियों को मिथ्या न माने, माया की रचना न कहे। वरन्, इसके विपरीत उन्हें सही

मूल्य प्रदान करे। यथार्थ समझे। सत्य माने। भले ही वे केवल अभिव्यक्ति रूप सत्य हैं, फिर भी, क्योंकि उनका मूल परमात्मा में है, अतः हम उन्हें मिथ्या नहीं कह सकते। जब किसी पदार्थ का मूल कारण हम परमात्मा को स्वीकार कर लेते हैं, तब वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? वह माया की रचना नहीं कहा जा सकता। वह है। उसका अपना अस्तित्व है। चाहे उसका जीवन अज्ञान में ही निमज्जित हो। सृष्टि में अज्ञानी होना पाप नहीं है। मानव आत्मा अपने विकास में– जब तक वह एक स्तर-विशेष उपलब्ध नहीं कर लेती – अज्ञान में निवास करती है।

हमें बताया गया है कि मूल अस्तित्व के असंख्य स्तर हैं। हर स्तर की अपनी चेतना है, अपनी क्षमता है। इस सृष्टि में अथवा इससे परे जो लोक-लोकान्तर हैं उनमें वही एकमेवाद्वितीय मूल अस्तित्व अपने आपको अभिव्यक्त करता है, कर रहा है, जिसका यहाँ या वहाँ यह सब विस्तार है। जीवन मार्गों पर सचेतन होकर चलने के लिए, विश्व-प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए, भौतिक जीवन तथा तत्व पर आत्मा की विजय साधित करने के लिए, अस्तित्व के विभिन्न स्तरों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। तभी हमें समग्र दृष्टि प्राप्त होती है, हम ब्रह्म और जगत दोनों को उनकी समग्रता में देखते हैं। संसार में क्रियाशील तत्वों का, शक्तियों का पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त होता है। उनके स्वभाव को, सामर्थ्य को, काम करने के प्रकार को हम समझते हैं। विश्व विधान का हर रहस्य हमारे नेत्रों के सम्मुख खुलता है।

हम उन स्तरों से संबंध स्थापित करने में सफल होते हैं जो मानव जीवन को, पृथ्वी के वातावरण को ऊँचा उठाने में, उसे आत्मा की दिव्यता में परिवर्तित करने में सक्षम हैं।

यह सब वैदिक शिक्षा के अनुरूप है। जिस प्रेरणा को हम अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रहे हैं वह वैदिक ज्ञान पर आधारित है। आध्यात्मिकता के जिस नये स्वरूप की चर्चा हम कर रहे हैं – जो कि मानव जीवन में आत्मा की दिव्यता का प्रवाहित होना संभव मानती है, उसमें रूपान्तरण सृष्टि की नियति घोषित करती है – वह भी अपने आपमें नया नहीं है। वरन्, काव्यमयी भाषा में कहें तो– प्राचीनतम से भी प्राचीनतर है। अतिमानस की चर्चा भी वेदोक्त विषय है। अतिमानस एक सत्य चेतना है। वेदों में "महः" अथवा "विज्ञान", कहकर संबोधित है। पृथ्वी पर अतिमानस का अर्थात विज्ञानमयी चेतना का अवतरण श्रीअरविन्द के द्वारा संभव हुआ है। अतिमानस की सहायता से मानव अतिमानव में, एक देव-मानव में रूपान्तरित हो सकता है। सृष्टि विकास-क्रम में मनुष्य के पश्चात् अतिमानव का आगमन श्रीअरविन्द के अनुसार एक अवश्यंभावी प्रकरण है। हमारे पूज्य पूर्वजों ने, ऋषि-मुनियों ने सामूहिक रूप में सविस्तर इसे अपनी दिव्य चर्चा का विषय बनाया था। हम आज भी चेतना की एक परिशुद्ध अवस्था में उनसे सीधी प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। उन्हें अपने वातावरण में अनुभव कर सकते हैं। उनकी अमृतमय वाणी से जीवन मार्गों को उज्ज्वल बना सकते हैं।

चिन्तन मनन

मेरी अभीप्सा के प्रत्युत्तर के रूप में कभी-कभी मेरा अन्तर गुनगुनाता है – अब तक जो भीं ज्ञान मनुष्य को प्रदान किया गया है, विचारों के द्वारा, चाहे प्रेरणाओं के द्वारा, अंतर्वाणी के द्वारा अथवा ऊर्ध्व वाचा के द्वारा – यह ज्ञान-गंगा के अवतरण का केवल प्रारंभ है, अनंत ज्ञान-सिंधु की केवल एक लहर है। अनंत ज्ञान अपनी नई अभिव्यक्ति के साथ संसार में सदा अवतरित होता रहेगा। कोई भी आत्म-ज्ञान को धारण करनेवाला ज्ञानी अंतिम नहीं कहा जा सकता। उसके शब्दों को अंतिम नहीं माना जा सकता। यह संभव है कि हम एक ऐसी चेतना में उठ सकें जो अनंत ज्ञान को, असीम ज्ञान राशि को, धारण करती है, किन्तु उसे उसकी समग्रता में, परिशुद्ध रूप में अभिव्यक्त करना एक असंभव कार्य है। अगर हम परात्पर चेतना की अभिव्यक्ति को सही, सच्चा स्वरूप प्रदान करना चाहें तो हमें अपने अंदर एक अतिमानसिक क्षमता विकसित करनी होगी। उससे रंच मात्र भी कम, चाहे वह हमारी दृष्टि में कितनी भी महान हो, अनुपयुक्त सिद्ध होगी। अमृत को धारण करने वाला पात्र भी अनुपम होना चाहिये। ज्ञान अनंत है। अनंत ज्ञान की अभिव्यक्ति अनंत काल की, अनंत देश की मांग करती है।

* * *

सृष्टि-सरोवर

असंख्य कमलों से भरे इस असीम सरोवर को देखें। आकाश में स्थित एक सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा सब को समान रूप से प्रकाशित कर रहा है।

वे परमात्मा सब आत्माओं को अपने तेज से विकसित कर रहे हैं। सम्पूर्ण सृष्टि विकास-पथ पर अग्रसर है। विकास-पथ अनन्त है।

एक दिन पदार्थों में छिपी अनन्त संभावनाओं से युक्त दिव्यता पृथ्वी पर प्रकट होगी। सब जीवात्माएँ जिस एक अखंड परम आत्मा की अभिव्यक्ति हैं उस चेतन पुरुष की चेतना से हर प्राणी सचेतन होगा।

भगवान के विषय में इस प्रकार की धारणाएँ बनाना कि वह इतना मात्र ही है, इतना ही कर सकता है इससे भिन्न, इससे अधिक नहीं, भ्रांतिपूर्ण विचार है। भगवान सर्व संभावनाओं से भरपूर अनंत सिंधु हैं। हर संभावना का प्रकटन, उसका उपयुक्त समय प्रभु पर निर्भर करता है। सृष्टि में हर घटना का समय वे ही निर्धारित करते हैं। यहाँ सब, उनके दिव्य संकल्प की दिव्य तथा अदिव्य, मिश्रित अभिव्यक्ति है। किन्तु यह उसकी सीधी अभिव्यक्ति नहीं है। इसके पीछे एक अति दीर्घ योजना है। महान श्रम है। रहस्यमयी, चमत्कारों से भरी कार्य-प्रणाली है, चेतना तथा अस्तित्व के विभिन्न स्तर हैं।

दिव्य देन

संसार एक नये मोड़ पर है। घटनाएँ तेजी से घट रही हैं। चीजें विकसित हो रही हैं। पदार्थों के भीतर स्थित अंतर्वेग उन्हें उनके सच्चे स्वरूप में उठाने का, अपनी सीधी अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करने का प्रयास कर रहा है। कुछ नहीं कहा जा सकता, विज्ञान हो या आध्यात्मिकता कि किस समय क्या नया तत्व, नयी वस्तु हमारी खोज के परिणाम स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाये। हमारे जीवन का अंग बन जाये। यह घड़ी अप्रत्याशित अभिव्यक्ति की है। हमें किसी भी वस्तु के विषय में यह घोषणा नहीं करनी चाहिये कि यह इतनी मात्र ही है। इसका अंतिम, पूर्णतम, उच्चतम स्वरूप यही है। यह विश्व विधान में परिवर्तन का काल है।

दिन-दिन ऊँची चेतनाएँ पृथ्वी पर अवतरित हो रही हैं। जो संसार को स्वर्ग का रूप प्रदान करने के संकल्प को लेकर यहाँ क्रियाशील हैं। ये मानव-जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में, उसे आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित करने में संलग्न देखी जा रही हैं। यह संभव हो सकता है कि कोई भी उच्च वस्तु प्रदान करने से पहले हमारे भावों में, विचारों में नमनीयता देखने की मांग की जाये।

आज मनुष्य उस मोड़ पर खड़ा है जहाँ उसे अपने विकास में एक स्तर और ऊँचा उठने के लिए सामूहिक रूप में सचेतन बनना होगा। उच्च वस्तुएँ उसे प्रदान की जायेंगी। उन्हें ग्रहण करने की अभीप्सा उसे अपने अंदर जगानी होगी। ग्रहणशीलता की शर्तें पूरी करनी होंगी। नान्यपन्थाः।

मानव नियति

जो जहाँ है, उससे ऊपर उठेगा। एक दिन सब अपने गंतव्य को प्राप्त करेंगे। सांसारिक भोगों को भूल कर, दिव्यता, मुक्ति और भगवान पर चिंतन-मनन, विचार करेंगे। जो अविवेकी हैं, आचरणहीन हैं, वे आत्म-सत्य में उठेंगे और जीवन में उसे चरितार्थ करेंगे। अज्ञानी को ज्ञान मिलेगा। मन में निवास करनेवाला आत्मा में निवास करेगा। इंद्रियों की दासता में ठोकर खानेवाला व्यक्ति एक दिन अवश्य, आत्मा की स्वतंत्रता में उठेगा। लोभी और स्वार्थी भी दूसरों के लिए जीवन जीने में, आंतरिक संतुष्टि अनुभव करेंगे। एक जाति, अन्य जातियों का मान करेगी, हृदय में स्थान देगी। देश, परस्पर देशों को आलिंगन करने में हर्षित-गर्वित अनुभव करेंगे। पृथ्वी का वातावरण दिव्य होगा, देवता यहाँ जन्म लेने के लिए लालायित होंगे। मानव अपनी मानवता का अतिक्रमण कर, अतिमानवता में उठेगा। मानव जाति में से एक देव जाति, अतिमानव जाति विकसित होगी। जो मानव की सब समस्याओं का स्थायी समाधान प्रदान करने में सुसमर्थ होगी।

शीघ्र ही मधुमय आभा बिखेरने वाली दिव्य उषा पृथ्वी के आँगन में पदार्पण करेगी। जो अपने पीछे उस स्वर्णिम सूर्य को उदित करेगी जिसके सुहावने उज्ज्वल प्रकाश में धरा-हृदय तमहीन होगा।

धरती की नियति

संसार अज्ञान से ज्ञान की ओर जा रहा है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। मनुष्य की शारीरिक चेतना मे, उसकी मानसिक चेतना की भांति जीवन के ऊँचे स्तरों पर झांकना प्रारंभ कर दिया है। जैसे उसने एक दिन पशुता मिश्रित जीवन को पीछे छोड़कर अमिश्रित मानसिक तथा बौद्धिक जीवन को प्राप्त किया था, वैसे ही आज अतिमानसिक चेतना में उठने की अभीप्सा उसके अंदर देखी जा रही है। हम देख रहे हैं कि प्रथम प्रयास में उसने आध्यात्मिकता के वर्तमान नये स्वरूप को– जो कि वास्तव में प्राचीनतम है, वैदिक है– स्वीकार कर लिया है। अपने अंदर से जगत के त्याग की भावना को अर्थात् जीवन तथा कर्म के त्याग के भाव को बाहर निकाल फेंका है और उसके स्थान पर अपने आपको तथा जीवन को पूर्ण बनाने का, आत्म-दिव्यता में रूपान्तरित करने का संकल्प, उसकी अभीप्सा प्रतिष्ठित की है।

एक नये प्रकार की जागृति मानव स्वभाव में देखी जा रही है। हम भूतकाल की उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं हैं। हम ठीक वही करना, वही दुहराना नहीं चाहते जो दूसरे कर गये। हम मुक्ति नहीं चाहते। मुक्ति-मोक्ष हमारे लक्ष्य नहीं हैं। हम जीवन के उत्थान में, उसके रूपांतरण में विश्वास करते हैं। हमारी मान्यता ही नहीं अनुभूति है – भले ही वह अभी भौतिक जगत की वस्तु नहीं बनी – मनुष्य की संपूर्ण सत्ता का, उसके

शरीर का भी आत्मा की दिव्यता में दिव्यीकरण संभव है। उसका जीवन आत्मा की सीधी अभिव्यक्ति हो सकता है। उसमें आत्मा की दिव्यता, उसकी उच्चता, उसकी विशालता, उसकी पवित्रता प्रवाहित हो सकती है। संसार का जीवन स्वर्ग से भी अधिक सुखी, वैभवपूर्ण बन सकता है। उसमें आत्मा की परिपूर्णता लायी जा सकती है, आत्मा की दिव्यता में उसका रूपान्तर धरती की नियति हो सकता है और अपने पूर्वजों की घोषणा में श्रद्धा रखते हुए हम कह सकते हैं– यही धरती की नियति थी और है।

हे प्रभो ! हे जगदीश्वर आश्चर्यचकित हूँ। मनुष्य सचेतनता से कितने दूर हैं। इनका जीवन अचेतनता से कितना भरा है। कितने दूर हैं ये अपनी तथा जगत सत्ता के सत्य से। उस अमृत-सिंधु से जो अनंत है, जिसका कण-कण आनंद से भरपूर है। ऐसे आनंद से जो किसी पदार्थ पर निर्भर नहीं करता। नित नवीन रहता है। जिसमें किसी प्रकार के मिश्रण की संभावना नहीं। जिसकी पहली झांकी मनुष्य को इतना महान बना देती है कि वह अपनी सत्ता को हिमालय से सहस्त्रगुना महान अनुभव करता है।

प्रकटन

जब तक जड़ में छिपा चेतन प्रकट नहीं होता तब तक वह जड़ ही है। मनुष्य में जब तक भीतर छिपी आत्मा सम्मुख नहीं आती और अपने गुणों को, प्रकाश को प्रकट नहीं करती, तब तक हमारा जीवन चाहे वह कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, अंधकार पूर्ण है। अज्ञान पर आधारित है। जिसका अर्थ होता है हमारे अंदर अभी अहंकार है और हमारी प्रेरणाओं में उसके स्वभाव का, जो कि सदैव स्वार्थपूर्ण होता है – मिश्रण है। प्राचीन जन्मों के संस्कारों से प्रभावित है। जहाँ हमारे व्यक्तित्व पर निम्न कामनाओं से युक्त अवचेतन मन की छाया रहती है। यह तो तभी संभव है, जब जीवन की सब गतिविधियों को, उनकी समग्रता में, हम अपनी अंतःस्थित आत्मा के हाथों में सौंप देते हैं– हमारी जीवन–धारा अमिश्रित रूप में, सीधी प्रभु–चरणों की ओर प्रवाहित होती है। आत्म–सत्य उसमें तरंगित होता है।

जब तक ऐसा नहीं है, मानव-जीवन एक सामान्य-सी घटनाओं का सिलसिला है, जो उपयोगी तत्वों से विहीन क्रियाओं का, भावनाओं का, मनोरथों का जाल है। उसमें दूरदर्शिता नहीं। वह दृष्टिहीन है। उसमें उच्चता नहीं, भव-सागर का धूमिल जल प्रवाहित है। कभी भी अवांछनीय तत्व उभर सकते हैं। विरोधी शक्तियों से आक्रान्त हो सकता है। उनकी दुष्टता की चरितार्थता का क्षेत्र बन सकता है। और फलस्वरूप हमें सुख-सिंधु से दूर ले जा सकता है।

सत्य सदा असीम

परम सत्य सदा असीम है। हमारे कितना भी चाहने पर, मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजाघरों में बंद नहीं किया जा सकता। उसे कोई भी जाति अपना कहकर, दूसरों के लिए उसका द्वार बंद नहीं कर सकती। उसके विषय में कोई भी शास्त्र यह दावा नहीं कर सकता कि वह इतना मात्र ही है, इससे परे, इससे बाहर नहीं।

वह सत्य नभ में सूर्य की भांति संसार के भीतर-बाहर, ऊपर नीचे सर्वत्र भासित है। इसकी शक्ति की, ज्योति की सीमा नहीं। मानव हृदय के अंदर उस चिनगारी का रूप ग्रहण कर सकती है, जो संसार को हिला सकती है। इसकी एक किरण मानव को देव-मानव में रूपान्तरित कर सकती है। मूलशंकर को ऋषि में परिवर्तित कर सकती है, मानव बुद्धि में उस विचार को पुनः-प्रतिष्ठित कर सकती है, जिसकी ओर से संसार आँख़ें मूंद चुका था, उस संस्कृति की ओर पुनः मानवता के हृदय में आकर्षण उत्पन्न कर सकती है, जिसकी ओर से वह अपना मुख फेर चुकी थी।

हे मानव ! उस सत्य-सूर्य के दर्शन का अभिलाषी बन। उसके प्रकाश में जीवन मार्गों पर अग्रसर हो। वह सत्य परमात्मा का स्वरूप है। उसमें प्रतिष्ठित होने की अभीप्सा अपने हृदय में जगा।

———

सुनिश्चित पथ

पृथ्वी पर भागवत कर्मी, भगवान का यंत्र, इस बात की जरा भी चिंता नहीं करता कि वह दूसरों की दृष्टि में क्या है, क्या कर रहा है। एक प्रेरणा वह अपने अंदर अनुभव करता है, एक वाणी वह आत्मा में सुनता है, मधुर मुस्कान से भरा दिव्य चेहरा वह अपने समीप पाता है, उत्साह, जोश और उल्लास से भरी उमंग उसके हृदय में उठती है। इन्हीं के द्वारा निर्भीक और निस्संदिग्ध हुआ वह भगवद् निर्दिष्ट स्व कर्तव्य पालन में संलग्न रहता है। उसकी दृष्टि में एक ही वस्तु होती है, भागवत आदेश। एक ही लक्ष्य, भागवत आदेश का पूरी सच्चाई से पालन। उसकी आत्मा अपने अवतरण के औचित्य को इसी में सिद्ध हुआ मानती है। प्रभु-प्रसन्नता उसके लिए सबसे महान वस्तु है।

विश्व के प्रति मंगल भावना रखने वालों को अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होता है। मानव मात्र एक है। व्यक्ति-सत्ता आंशिक सत्य है। विश्व-सत्ता, विश्व-मानव ही पूर्ण सत्य है। यह जगत भगवान का है, जगत रूप में स्वयं भगवान हैं। अतः मानव कल्याण हित अपने सर्वस्व की आहुति देना भागवत सेवा, भागवत कर्म है। जो व्यक्ति संसार में मानव सेवा को अर्थात् उसका जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के कार्य को जीवन लक्ष्य के रूप में चुनते हैं, वे प्रभु के यंत्र होते हैं। धरती माता की सच्ची संतान हैं। उनका जन्म सफल कहलाता है।

दृढ़प्रतिज्ञ

जब तक हम आत्मा में निवास नहीं करते, हमारा निवास अहंकार में, बाह्य व्यक्ति-चेतना में है। जिसका अर्थ है हमारा निवास सत्ता के सत्य में, सच्चे व्यक्तित्व में नहीं, यांत्रिक सत्ता में है। हमें इस विषय में सचेतन हो जाना चाहिये। इसके प्रति हमारे अंदर संघर्ष का भाव उठना चाहिये। हमारे मन-बुद्धि-हृदय पर असंतुष्टि छा जानी चाहिये। मानों हमें छला जा रहा था और हमें बोध नहीं था। वास्तव में हर व्यक्ति प्रकृति के द्वारा पग-पग पर छला जा रहा है। हम अपने आपसे कहें "अरे ! यह क्या ! मैं तो मिथ्या में रह रहा हूँ। मैं इस बाह्य व्यक्तित्व को, मन अहंकार तथा इंद्रियों को अपना आप समझ रहा हूँ। मुझे जागना होगा। इस अज्ञान से, मिथ्या प्रतीति से बाहर आना होगा और अपनी सत्ता के सत्य का दर्शन कर, उसमें निवास संभव बनाना होगा। मेरा सच्चा स्वरूप आत्मा है और उसका साक्षात्कार करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। इसके लिए मैं हर चुनौती का सामना करने के लिए तत्पर हूँ।"

अगर मनुष्य अतिमानसिक चेतना में उठ सका तो निश्चय ही उसका जीवन दिव्य जीवन में परिवर्तित हो जायेगा। हमारी यह सुंदर वसुंधरा स्वर्गिक संपदाओं से भरपूर हो उठेगी। अमृतमय अलौकिक वैभवों से भरे मेघ यहाँ बरसेंगे।

चिन्तन करें

सबसे पहले हमें इस दिशा में सोचना है कि मनुष्य के वर्तमान जीवन को कैसे ऊँचा उठायें। उसे आत्मा की शांति, प्रकाश, सत्य, प्रेम आदि गुणों से कैसे सम्पन्न किया जाये। अभी इसमें बहुत तरह के विरोधी तत्व हैं। यह अज्ञान की, अहंकार की छाया में प्रवाहित है। इसमें प्रेम नहीं, उसका स्थान घृणा ने ग्रहण किया है। सत्य का स्थान छल-कपट, धूर्त्तता ने, तथा उच्चता एवं विशालता का स्थान, निम्नता ने लिया है। हमें इसमें परिवर्तन लाना होगा। आनेवाली पीढ़ियों के सचेतन होने से पूर्व ही हमें वर्तमान जीवन के स्वरूप को बदलना होगा। हमें समझना है कि मानव-जीवन का लक्ष्य सुख-भोग नहीं, कामनाओं की पूर्ति नहीं, अहंकार को आगे रख कर, उसके प्रभाव में रहते हुए, जीवन-मार्गों पर चलना नहीं, वरन् आत्मा को पाना, जीवन में उसे अभिव्यक्त करना है। अन्यथा, यदि हमने अपना भाव न बदला, आगामी संतति भी हमारी तरह कलह में, घृणा में, युद्धों में, बदला लेने की भावना में बह कर, कैसे भी दूसरों को पद-दलित कर उन पर शासन करने को जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनेगी !

हमारी खोज का प्रथम विषय होगा कि हजारों वर्ष बीत जाने पर भी हम संसार में स्थायी शांति लाने में सफल क्यों नहीं हुए? मानवता भ्रातृत्व के भाव में, प्रेम के सूत्र में क्यों नहीं बंध पायी? हम धर्म का मूल्य रीति-रिवाजों से क्यों तौलते हैं ?

क्यों मानवता में ऊँच-नीच के भाव को स्थान प्रदान करते हैं ? क्यों हम जात-पात, धर्म संबंधी संकीर्णताओं से बाहर नहीं आते ? क्यों इनमें डूबे हैं, क्या है वह जो हमें पंथों से, रूढ़ियों से, कर्म-कांडों से बांधे हुए है, संस्कारों में जकड़े हुए है ? कब मनुष्य अपनी सत्ता का तथा जगत सत्ता का सत्य प्राप्त करेगा और उसमें निवास संभव बनायेगा ? जब हम यह भली प्रकार समझ गये हैं कि आध्यात्मिकता में उत्थान ही, आत्म-सत्य में निवास ही वह वस्तु है जो संसार को स्थायी सुख-शांति प्रदान करने में समर्थ है, तब हम अपनी सीमाओं का अतिक्रमण क्यों नहीं करते, आत्मा की उच्चता में, उस विशालता में क्यों नहीं उठते ! वर्तमान स्वभाव को पीछे क्यों नहीं छोड़ते, आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित स्वभाव क्यों नहीं अपनाते ?

हे प्रभो ! ऐसे व्यक्ति कम हैं जो शास्त्रों की वाणी सुनते हैं, उसमें श्रद्धा रखते हैं, उसे ठीक-ठीक समझते हैं। वर्तमान मानव के लिए अपनी मानवता को, अपने मानव स्वभाव को पीछे छोड़कर दूसरा एक उच्च दिव्य स्वभाव धारण करना कठिन हो रहा है। अपनी सीमित चेतना को, जिसमें अहंकार अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सत्य तथा न्याय की बलि देने के लिए हर कदम पर तैयार रहता है— अतिक्रमित करना, एक महान दिव्य सत्य के सम्मुख अपने सीमित व्यक्तित्व की आहुति चढ़ा देना, उसे अत्यंत कष्टप्रद अनुभव हो रहा है। अतः मैं तेरी ओर मुड़ा हूँ। हे करुणा निधान ! तू चेतना के उत्थान में, उसके अतिक्रमण में, एक दिव्य, विशाल, सीमाहीन

सत्य की प्राप्ति में मनुष्य की सहायता कर। वह जागे। उसे सुबुद्धि प्राप्त हो, वह विवेकपूर्वक हर कदम उठाये। मानसिक सीमाओं से बाहर आये। सबको आत्म-रूप देखे, मानव मात्र को 'आत्मीय समझे। भागवत प्रेम में डूबे। सब प्रकार के भेद-भाव से ऊपर उठे और दूसरों के सुख में, उन्हें सुखी देखकर, उन्हें सुख प्रदान कर सुखी अनुभव करे।

हे प्रभो ! तू आज के युवा वर्ग के अंदर नव-चेतना का संचार कर। भावी मानवता के ये ही निर्माता हैं। ऐसी कृपा कर कि ये वस्तुओं को नया मूल्य प्रदान करना सीखें और उन्हीं तत्वों को चुन-चुन कर जीवन में संजोयें जो मानव के अंदर छिपी दिव्यता को चरितार्थ करने में सहायक हों। जिससे कि संसार का जीवन दिव्यता से भर उठे। प्राचीन परिवर्तित हो, सभी अदिव्य वस्तुएँ आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित हों।

हम आत्म विकास में इतने ऊँचे उठें कि भगवान के द्वारा चुन लिए जायें। संसार में उनका यंत्र बनने का सौभाग्य हमें प्राप्त हो और वह तभी संभव है जब अंग-प्रत्यंगों की चेतना के साथ, हमारी संपूर्ण सत्ता की चेतना अतिमानसिक चेतना में रूपांतरित हो, उसके गुण—उसकी दिव्यता, उच्चता तथा विशालता वह धारण करे।

उन सबको एक दिन पछताना होता है जो समय रहते जीवन-लक्ष्य प्राप्त नहीं करते। संसार में अपने कर्तव्य को, जिस लक्ष्य को लेकर आत्मा अवतरित होती है उसे पूर्ण नहीं करते। जिन्होंने अपने और आत्मा के बीच स्थित पर्दे को नहीं हटाया। आत्मा की वाणीी को नहीं सुना। उसके आदेश को कर्तव्य रूप में निर्धारित नहीं किया। उसका आदेश-पालन जिनके जीवन का स्वरूप न हो सका। जो इन्द्रियों में रमण करते रहे। सुख भोगों में डूबे रहे। कामनाओं का त्याग न कर, उनकी पूर्ति में दिन बिताते रहे। जिन्होंने अहंकार के स्वरूप को नहीं पहचाना। इंद्रियों की दासता जिनके अंदर बेचैनी उत्पन्न नहीं करती। जो विषय-भोगों में जलन अनुभव नहीं करते। आत्म-अज्ञान जिन्हें खलता नहीं। मोह जिन्हें कचोटता नहीं। जिनके हृदय में प्रभु के लिए प्रेम नहीं। मानव मात्र के लिए दया नहीं। प्राणी मात्र को सुखी करने के लिए अपने सुखों की बलि चढ़ाने की भावना नहीं। संसार से दुख-कष्ट दूर करने के उपाय की, इसे कष्टों से मुक्ति प्रदान करने के मार्ग की खोज जिनका ध्येय नहीं। जो स्वर्ग का साम्राज्य, आत्मा का सत्य, उसका विधान यहाँ स्थापित करने की अभीप्सा से विहीन हैं। ऐसे मनुष्यों को प्रकृति भयंकर कष्टों में गिराती है। शारीरिक, मानसिक यंत्रणा रूपी अग्नि की तीव्र लपटें ही वह उपाय है जिनकी जलन में ये जागते हैं। अधोमुखी जीवन-धारा से तंग आते हैं और आत्म-उन्नति का ऊर्ध्वमुखी मार्ग अपनाते हैं।

सच्चा सुख

आत्म-साक्षात्कार का आनंद सर्वोपरि है। त्रिलोकी में ऐसा कोई सुख नहीं जिसकी तुलना उससे की जा सके। सर्वत्र प्रभु-दर्शन करने के सुख की तुलना में समस्त स्वर्गिक सुख फीके पड़ जाते हैं। दूसरों के सुख में अपने सुख का बलिदान करने से हमें सृष्टि में सुलभ सर्वोच्च सुख की अनुभूति होती है। मानव मात्र के मंगल में अपनी उन्नति की ओर ध्यान न देना विवेक-वृक्ष का सबसे महान और मधुर फल है। जीवन को प्रभु की देन समझना, उनके लिए ही यापन करना मानव आत्मा को गहनतम संतुष्टि प्रदान करता है। विश्व-कल्याण में अपने जीवन की आहुति दे देना सर्वोच्च शास्त्रीय शिक्षा है। फिर भी इस धरती पर कुछ अभागे मनुष्य घूमते नजर आते हैं जो केवल अपने लिए ही जीते हैं, अपने सुख की ही चिंता करते हैं, अपनी स्वार्थ-सिद्धि को ही मनुष्य का संपूर्ण जीवन समझते हैं। अगर वे अपनी इच्छाओं से, स्वार्थ-भावनाओं से, भोगों के प्रति लालसा से ऊपर उठें – तो देखेंगे कि जिस सुख को वे संसार का सबसे महान सुख समझते हैं वह सुख के एक सरोवर से अधिक कुछ नहीं है और असली सुख का सागर अभी उनकी पहुँच के परे है। जो उन्हें ही प्राप्त होता है जिनका जीवन आदर्शमय है, जो मानवता के लिए, भगवान के लिए जीवन यापन करते हैं।

भ्रांति का स्वरूप

हमें चाहिये कि जीवन को खोज का स्वरूप प्रदान करें। अपने विषय में सचेतन बनें। बाह्य व्यक्तित्व को अर्थात् शरीर, मन तथा अहंकार को अपने आपसे पृथक् देखने का अभ्यास करें। इन्हें अपना सच्चा स्वरूप न मानें, इनके पीछे, इनके भीतर जायें और अपनी आत्मा से, जो कि हमारा सच्चा स्वरूप है, तादात्म्य लाभ करें। अपने व्यक्तित्व संबंधी धारणा के विषय में हर व्यक्ति भ्रांति में है। हम अपने आपको शरीर समझने की, मन के विचारों को अपने मानने की, तथा अहंकार की कामनाओं को, उसकी पसंदगी तथा चुनावों को, अपने समझने की भूल करते हैं। यह अज्ञान है जिसके द्वारा आत्म-ज्ञान ढका रहता है। मन, शरीर, इंद्रियाँ, अहंकार आदि बाह्य व्यक्तित्व के अंग हैं और अगर हमें अपनी सत्ता का सत्य प्राप्त करना है, अपने सच्चे स्वरूप में स्थित होना है, तो हमें इस बाह्य व्यक्तित्व से पीछे हटना होगा, इसके भीतर प्रवेश पाना होगा। तभी हम अपनी सत्ता के सत्य के समीप पहुँचने में समर्थ हो सकेंगे। तभी आत्म-दर्शन का मार्ग हमारे सामने खुलेगा।

अपने सच्चे स्वरूप का, अपनी सत्ता की सत्य स्थिति का ज्ञान होने से सर्व प्रथम उपहार जो हमें प्राप्त होता है, वह यह अनुभव है कि मैं निश्चित रूप से सदा मुक्त हूँ।

आत्म-समर्पण

प्रभु को आत्म-समर्पण वह स्वर्णिम कुंजी है जो हमारी सत्ता के सब द्वार खोलने में समर्थ होती है। जिसकी समझ में यह शास्त्रोक्त वचन आ जाता है वह निरर्थक चेष्टा करनी छोड़ देता है, उसका जीवन प्रकाशमय, शांतिमय हो जाता है। वह अपने आपको हृदयेश्वर के हाथों में सौंप देता है। जीवन का हर कदम उनकी अनुमति से उठाता है। उसे सिंहासन मिले या वनवास, महल में रहना पड़े या कुटीर में, योद्धा हो या पुजारी सब अवस्थाओं में वह समान अनुभव करता है। यही जनक की विदेहता थी। हम शरीर को अपना आप नहीं समझते, इसमें रहते हुए इसे पृथक् देखते हैं। इसकी मांगों को अपनी नहीं समझते। आत्म-उपलब्धि के पश्चात् यह अनुभूति स्वाभाविक है। जल में कमल-पत्र ऐसे ही रहता है। परम शांति प्राप्त करने का यही विधान है।

हमें और आगे जाना है। अनुभव में और ऊपर उठना है। संसार में भागवत यंत्र बनना है। उसके लिए उनके साथ हर स्तर पर सामीप्य लाभ करना प्रथम कर्म है। जो समर्पण से प्राप्त होता है।

समर्पण के द्वारा हम प्रभु में रहने लगते हैं। हमारे तन-मन, हमारी संपूर्ण सत्ता उनका निवास-स्थान हो जाती है। चेतना उनकी दिव्य चेतना से ओत-प्रोत रहती है। हमारे भाव होने चाहिएँ "यहाँ मैं हूँ, तेरे चरणों में, जो तू चाहे वैसा कर। मैं सब

विचारों को पीछे छोड़कर, पाप-पुण्य की भावनाओं से, धर्माधर्म की परिधि से बाहर आकर, स्वतंत्र व्यक्तित्व संबंधी धारणा को भूलकर, मुक्ति की अभिलाषा से ऊपर उठकर, अपने भविष्य के विषय में चिंता रहित, तुझे समर्पित हूँ। मैं पूर्ण रूप से तेरा हूँ और चाहता हूँ कि तू ही मेरे अंदर निवास करे। इस जीवन नौका की पतवार तेरे दिव्य कर-कमलों में रहे। दिशा का चुनाव, गन्तव्य का निर्धारण तेरे द्वारा हो। तेरे चरणों में नत हुआ तेरे आदेश के लिए, सचेतनता के साथ, प्रतीक्षा में रत हूँ।

तेरा इंगित मेरा जीवन है। तेरा संकल्प, तेरी इच्छा, तेरा आदेश, मेरी आत्मा के समान मेरा सर्वस्व है।

आज तक हमने जीवन का पहला, इस पार का किनारा पाया है। दूसरा किनारा पाना, वहाँ पहुँचना अभी शेष है। हम कह सकते हैं जीवन जो सब दिव्य वस्तुएँ हमें प्रदान कर सकता है उसकी तुलना में, जो हमने आज तक पाया है अति सामान्य है। हम देख रहे हैं स्वर्गिक संपदाएँ, जो आज पृथ्वी के वातावरण से दूर हैं, संसार में उपलब्ध नहीं हैं, वे कल, मानव-जीवन का स्तर ऊँचा, आध्यात्मिक होते ही हमारी पहुँच के अंतर्गत होंगी।

चेतना विकास — चरम समाधान

अगर मानवता धर्मों को ही सब कुछ समझती रही और धार्मिकता में ही मनुष्य की सब समस्याओं का समाधान खोजती रही तो वह कभी भी दुख-कष्टों से, आपसी तनाव तथा कलह से निवारण पाने में सफल नहीं हो सकेगी। हमें व्यक्तिगत अहंकार की भांति जातिगत तथा धर्मगत अहंकार से, उनकी सीमाओं से भी बाहर आना होगा। तभी एक विशाल चेतना में हमारा आरोहण संभव होगा। जो हमें हमारी समस्याओं का समाधान प्रदान करने में समर्थ होगी। हमारा जीवन सुख, शांति तथा सामंजस्य से भरपूर होगा।

अगर हम अहंकार को पकड़े बैठे रहे और मानसिक चेतना तथा दृष्टि को ही सब कुछ समझते रहे, पृथ्वी पर अवतरित नई चेतना की ओर, अतिमानसिक चेतना की ओर उद्घाटित न हुए, जो कि मानव को अज्ञान मुक्त करने के लिए, उसे एक उच्च, दिव्य चेतना में उठाने के लिए ही यहाँ अवतरित हुई है, तो जातीयता तथा धार्मिकता से उत्पन्न पारस्परिक भेद-भाव के कारण संसार में विनाशकारी घटनाओं के पुनरावर्तन की संभावना बनी रहेगी।

अगर हम आध्यात्मिक सत्य को अस्वीकार करते रहे, उसे समर्पण न किया, उसके अनुसार जीवन को, अपने विचार तथा धारणाओं को परिवर्तित न किया, उनमें विशालता न लाये, संस्कारों को पीछे न छोड़ा तो पृथ्वी का वातावरण आसुरिक

शक्तियों के प्रभाव से मुक्त न हो सकेगा। वे बनी रहेंगी और युद्ध जैसी बीभत्स चीजों की संभवाना समाप्त नहीं हो सकेगी। मानव-हृदय में हिंसा, द्वेष तथा घृणा के भाव बने रहेंगे। जो समाज जातीय तथा धार्मिक संकीर्णता की जंजीरों में जकड़ा है वह कभी सुख का श्वास नहीं ले सकता। जिस सभ्यता ने मनुष्य को भाषा प्रदान की आचार सिखाया, जाति तथा धर्म के रूप के विषय में उसकी धारण भिन्न थी। उसमें सब कुछ आध्यात्मिकता पर निर्भर करता था। आत्म-चेतना, आत्म-एकत्व ही हर वस्तु का आधार होता था।

समय था जब धार्मिकता का भाव तथा जातीय चेतना हमारे विकास में अनिवार्य अवस्थाएँ थीं। उनके द्वारा ही मानव अहंकार ने शुद्ध, सात्विक रूप ग्रहण करना सीखा। हमने अपनी व्यक्तिगत सीमित चेतना की परिधि को अतिक्रम किया, उससे बाहर आये। मन के विचारों में, हृदय के भावों में विशालता को अपना स्वभाव बनाया। अब चेतना के पूर्ण विकास के लिए हमें एक ऐसे स्तर पर उठना होगा जो सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त हो। अतः हमें आध्यात्मिक चेतना में अपना प्रवेश संभव बनना होगा। जिसकी पहली शर्त ही है सब प्रकार की, यहाँ तक कि जातिगत तथा धर्मगत सीमाओं से भी ऊपर उठना।

अब समय आ गया है हमें आत्म-सत्य में अपना निवास संभव बनाना चाहिये। आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त कर जीवन को उसकी अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करना चाहिये। हमारे

अंदर हमारी आत्मा सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर एक विशाल चेतना में उठ़ना चाहती है। विकास के एक स्तर पर आकर जातिगत तथा धर्मगत सीमाएँ भी उसे असह्य होने लगी हैं।

हमें यह भली प्रकार समझ लेना है कि अतिमानसिक चेतना भागवत चेतना है। वह चाहती है कि संसार में आत्मा का, आत्म-सत्य का राज्य हो। मनुष्य अहंकार के बजाय अपनी सत्ता की गहराई में निवास करना सीखें। जिससे कि वे देख सकें सृष्टि का मूल एक है। मनुष्य मात्र का अंतर्निहित सत्य एक है। विश्व-वृक्ष एक है। बीज एक है। संसार में जीवन एक है। सारा जगत एक परमार्थ तत्व की अभिव्यक्ति है। अतः परस्पर प्रेम करना, मिलकर चलना, *'संगच्छध्वम्',* एक-दूसरे के लिए हृदय में स्थान रखना, सबके सुख-दुख को अपना समझकर, जो बिछड़े हैं उन्हें गले लगाना, जो गिरे हैं उन्हें उठाना, उनकी बाँह पकड़कर चलना, जिन्हें नहीं आता उन्हें चलना सिखाना, जो आत्म-सत्य की ओर उद्घाटित नहीं हैं उन्हें प्रेरित करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है।

यही वह महान तथा आदर्श कर्म है, जिसकी प्रतीक्षा मनुष्य के भीतर उसकी आत्मा कर रही है। तभी वह अज्ञान से बाहर आयेगा। व्यक्ति-चेतना की सीमित परिधि का अतिक्रमण करेगा। एक ज्योतिर्मय मानसिकता में उसका निवास संभव होगा, जो जीवन-मुक्ति का मार्ग उसके लिए प्रशस्त करेगी।

विचारों में उच्चता अथवा गहनता आत्मा के सामीप्य से, उसके सानिध्य से आती है।

मन-परिधि के पार

वह स्वर्णिम युग था, स्वर्णिम काल था, स्वर्णिम क्षण था। एक दिन मनुष्य ने अपने विषय में चिंता करना छोड़ कर इस अद्‌भुत सृष्टि के विषय में चिंतन किया। यह सृष्टि कहाँ से आयी, कैसे आयी, इसकी रचना किसने की, वह कहाँ है, उसकी स्थिति एवं स्वरूप क्या है, इन रहस्यों की उसने खोज की, इनका ज्ञान प्राप्त किया।

सृष्टि के रहस्य की खोज, सृष्टि कर्ता का ज्ञान, उसके स्वरूप का बोध, जो हमें प्रदान किया गया, वही शास्त्र है। यह विषय पूर्ण रूप से मानसातीत है। इसे समझने के लिए हमें भी मानसातीत स्तरों पर उठना होता है। इस समय हम जहाँ खड़े हैं, हमारी चेतना का जो वर्तमाान स्तर है, इस स्तर पर निवास करते हुए हम कभी भी उच्च अर्थात् मानसोत्तर वस्तुओं को समझने में समर्थ नहीं हो सकते।

मानसिक चेतना से ऊपर उठते ही हम अन्य प्रकार के व्यक्ति हो जाते हैं। संसार में वस्तुओं और प्राणियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण, हमारा भाव परिवर्तित हो जाता है। कहीं कोई पराया नजर नहीं आता। सब अपने दीखते हैं। हम अहंकार से ऊपर उठ जाते हैं। स्वार्थ-भावना हमें छोड़ कर चली जाती है। सर्वत्र आत्मीयता हमारा स्वभाव होती है। भ्रातृत्व की भावना से हमारा हृदय भरा होता है, हमारे शब्दों से प्रेम झरता है। हमारा व्यवहार मधुर तथा सत्यमय होता है। आँखें आकारों के पीछे

निराकार के दर्शन करती हैं। सृष्टि में हर वस्तु का स्थान, उसका महत्व, उसका प्रयोजन और अर्थ हमारी समझ में आ जाता है। एक उच्च आध्यात्मिक समता में निवास हमारा जीवन-स्तर होता है।

आज हमारी यह स्थिति क्यों है ? हम दीन क्यों हैं ? दुर्बल क्यों हैं ? कहाँ खो बैठे हम वह शक्ति जो एक विवेकानंद की आवाज पर सारा अमेरिका उठता और बैठता था ? एक दयानंद के इशारे पर राजे-महाराजे परिवर्तित होते थे। एक बुद्ध की वाणी पर चक्रवर्ती समर्पण करते थे। क्या थी वह शक्ति जो निरक्षर रामकृष्ण को भागवत पुरुष में उठा सकी। कौन शक्ति थी राम के चरित्र के पीछे जो सारा संसार उसके आगे शीश झुकाता हैं उसके असाधारण तप,त्याग और बलिदान से भरे, सत्य से ओत-प्रोत जीवन को देख कर उसकी पूजा करता है। कौन सी अलौकिकता, कौन सी महानता थी श्रीकृष्ण में, किसकी देन थी जो कोटि-कोटि मानव प्राणी जीवन मार्गों पर भटकते हुए, कामना और अहंकार के अंकुश के नीचे कष्ट क्लेश से संतप्त, आत्मा की शांति, मुक्ति लाभ कर जीवन को सुखी समृद्ध बना सकते हैं ! उन दिव्य चरणों की शरण ग्रहण कर जीवन का सुफल प्राप्त कर सकते हैं।

सजगता — एक अनिवार्य स्थिति

अगर यह शास्त्र-वचन एक ध्रुव सत्य है कि वह सृष्टिकर्ता, मानव आत्मा का सनातन सखा, उसका शाश्वत प्रेमी, मानव मात्र के हृदय में निवास करता है तो हमें परस्पर व्यवहार करते समय अत्यंत सावधान रहना चाहिए। जब भी हम किसी के साथ व्यवहार करें हमें इन जग-स्वामी की उपस्थिति के प्रति सचेतन होकर ही करना चाहिए। हृदय-स्थित दिव्य पुरुष के प्रति सचेतन होने का अर्थ है, उनके सम्मुख सम्मान प्रकट करते हुए, सत्यता, शीलता, विनम्रता से भरा व्यवहार करना। मनुष्यों में भगवान को देखना जब हमारे लिए स्वाभाविक हो जाता है, हमारी चेतना, हमारी दृष्टि परिवर्तित हो जाती है। सभी प्राणी हमें अपने अनुभव होने लगते हैं। हमारे व्यवहार में मधुरता आ जाती है। स्वभाव सरल हो जाता है। कठोरता हमें त्याग देती है। हम आत्मीयता की भावना में डूबे रहते हैं। चित्त प्रसन्न, हृदय उल्लास से भरा रहता है। जीवन मार्ग सीधे हो जाते हैं। कहीं कोई बाधा, कोई अड़चन दिखाई नहीं देती। किसी मन में कोई ग्रथि नजर नहीं आती। कोई हृदय कठोर नहीं रहता। हमारा अपना जीवन और हमारे चारों ओर जगत-जीवन, सब सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेता है। जहाँ आनंद के मेघ, आनंद के मेघों से आच्छादित होकर बरसते हैं।

प्रभु के प्यारे

संसार का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने में, इसे सुख-समृद्धि से भरपूर बनाने में जो प्राण-पन से चेष्टा करते हैं, इस भव-उपवन में शांति, सौन्दर्य तथा सामंजस्य के सुंदर पुष्प सजाने में अपने सर्वस्व की भेंट चढ़ाते हैं, सृष्टिकर्ता उन्हें अपने कार्य के लिए चुनते हैं, अलौकिक क्षमताएँ प्रदान करते हैं। वे प्रभु के प्यारे, उनके अपने होते हैं। उनके लिए ही हैं स्वर्गिक सुख, स्वर्णिम उषाएँ, अक्षय शांति के सिंधु, आनंद रूपी अमृतमय महोदधि। ये ही हैं वे जिन्हें जीवन में भय संकट विफलता स्पर्श नहीं कर सकती।

इस संसार में स्थायी सुख शांति, सामंजस्य स्थापित करना प्रभु का कार्य है। इसके लिए वे उन मनुष्यों को यंत्र रूप में चुनते हैं। जो श्रेष्ठ आचरण से युक्त हैं, जिनका हृदय विशाल है, जो अहंकार से ऊपर उठे हैं। प्रभु के द्वारा चुना जाना मनुष्य का सबसे महान सौभाग्य है। उसका जन्म-जीवन सफल है। भागवत शक्तियाँ अपने आशीर्वादों के साथ उसके पीछे, चहुँ ओर घेरा डाले रहती हैं।

हमें चाहिए भगवान के लिए हृदय को हर समय एक तीव्र भक्ति के आवेश से भरपूर रखें। उनके दर्शन की प्यास सतत बनी रहे। तन-मन उनके प्रति कृतज्ञता में झुके रहें। उनके आदेश की चरितार्थता हमारा जीवन हो। हमारे कर्म ऐसे हों जो दसों दिशा से हमारे ऊपर मंगल बरसायें, शुभाशीषों की वृष्टि संभव बनायें।

परम पिता

जब मेरा पुत्र मेरी सेवा करता है तो मुझे कितनी प्रसन्नता होती है। जब वह सब कुछ मेरी इच्छा के, आज्ञा के अनुसार करता है तो मेरा हृदय कितना आनंदित होता है, मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है। मंगल कामनाओं की, उसके लिए आशीर्वादों की वर्षा स्वतः प्रारंभ हो जाती है।

क्या हमने कभी सोचा है कि हम जिसकी संतान हैं, जो हमारा पिता है, कैसे हम उसे प्रसन्नता प्रदान कर सकते हैं। पिता को प्रसन्न करना, उसके हृदय को आनंदित करना हर पुत्र का प्रथम कर्त्तव्य है। अतः आयें, हम सब उस परम पिता की ओर मुड़ें, मिलकर उसकी खोज करें, उसकी प्राप्ति को जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनें। उसके दर्शन की अभिलाषा अपने हृदय में जगायें। हमें अपने पिता को पाना होगा और उसे प्रसन्न करना होगा। यह हर पुत्र का शास्त्रोक्त कर्त्तव्य है। हमें वह मार्ग खोजना होगा, वे सब कर्म करने होंगे, उस भाव में निवास करना सीखना होगा जिसके द्वारा पिता प्रसन्न होते हैं। वे प्राप्त होते हैं, हमें उनकी माधुर्य से भरी गोद प्राप्त होती है।

सच्चे, निश्छल, निस्वार्थ हृदय में आत्मा का प्रेम, उसकी चेतना प्रवाहित होती है।

स्वर्णिम युग का स्वरूप

हे प्रभो ! नई सहस्राब्दी की मधुमय मंजुल वेला में मेरा हृदय तेरी ओर खुला। मानव मात्र के मंगल की चाह लिए तेरी ओर मुड़ा। हर जाति तथा धर्म के लोगों तक, चाहे वे संसार के किसी भी कोनें में निवास करते हों तेरी शांति, तेरा प्रेम कैसे पहुँचाया जाये, मेरे मन का प्रथम विचार था। अश्रु बहाना कोई समाधान नहीं। फिर, कर भी क्या सकता हूँ ? कैसे इस जाति का चेतना-स्तर ऊँचा उठाया जाये, कैसे हम अपनी धार्मिक तथा जातीय सीमाओं से बाहर आयें और उस सर्वोच्च विचार के प्रकाश में वस्तुओं को देखने के अभ्यस्त बनें, सबको समान समझना, सबको प्रेम करना, सबका मंगल चाहना जिसके अंतगर्भित सार तत्व हैं।

कैसे वह वाणी प्राप्त हो, कैसे विश्वास दिलाऊँ कि अतिमानसिक चेतना संसार में अवतरित हो चुकी है। पृथ्वी के वातावरण में उपस्थित है। वह मानव को तथा उसके जीवन को आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित करेगी। इसी लक्ष्य को लेकर वह अवतरित हुई है और इसी की संसिद्धि की दिशा में क्रियाशील है। वह मानव मन का अपने यंत्र के रूप में उपयोग करेगी। उसे एक छलांग के लिए, अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए तैयार करेगी। जिसका व्यावहारिक रूप होगाः मनुष्य को प्रेम का पाठ पढ़ना होगा। सत्य का मार्ग अपनाना होगा। अपने व्यक्तित्व का आधार परमात्मा में खोजना

होगा। जीवन को आत्म-अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करना होगा। उसे समझना होगा कि मानसिक चेतना की परिधि में निवास एक बंधन है। आत्मा की विशालता मानव-सत्ता की स्वाभाविक स्थिति है। उसी में सुख है, शांति है, सच्ची संतुष्टि है। उसमें उठना ही मानव धर्म है, शास्त्रोक्त उत्तम कर्म है। विश्व-चेतना में आरोहण मनुष्य को उसकी मौलिक मानवता प्राप्त कराता है। जहाँ हम सब का अस्तित्व एक है। जीवन एक है, चेतना एक है। जिससे हमारे शरीर निर्मित हैं वह पार्थिव तत्व एक है। सब एक, अखंड दिव्य पुरुष का आत्म-विस्तार है। कैसे इन्हें समझाऊँ, कैसे परस्पर मिलाऊँ, कैसे भेद-भाव से ऊपर उठाऊँ, कैसे इनके बंद द्वार खुलें, ये सीमित अहंमय व्यक्तित्व से बाहर आयें और एक मुक्त नील नभ के नीचे, धरती माता की एक गोद में मिलकर बैठें, कैसे वह विशाल चेतना इन्हें प्राप्त हो, जिसमें उठकर व्यक्ति एक दूसरे की समस्या को अपनी समझते हैं। सुख-दुख को अपना सुख-दुख मानते हैं!

एक गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् मैं इस समाधान पर पहुँचा हूँ कि मैं अपनी संपूर्ण सत्ता को एक ऐसी अभीप्सा का स्वरूप प्रदान करूँ जिसमें रोम-रोम तुझे पुकारे, तुझे समर्पित रहे। संसार में तेरा यंत्र बनने में ही आंतरिक संतुष्टि अनुभव करे। व्यक्तिगत जीवन की मांगें, प्राप्ति की प्यास, उपलब्धि की भूख, सब तेरे इस सृष्टि-यज्ञ में आहुति बनकर स्वाहा हो जायें।

इस विचार को लेकर मैं एक गहरे चिन्तन में डूब गया। घंटी बजने की आवाज से मेरी चेतना बाहर आयी। द्वार खोलकर देखा, वहाँ कोई नहीं था। नवीन प्रभात के रुपहले पंखों के नीचे बैठकर मैं अपने शब्दों में वह सब अंकित करने लगा जो प्रेरणा स्वप्नवत मुझे प्राप्त हुई थी। "मनुष्य जाति ने सराहनीय उन्नति की है। किन्तु, अभी भी वह उस बिन्दु से दूर है जिससे सभी उन्नतियाँ, सभी क्रान्तियाँ जन्म पाती हैं। मनुष्य को समझना है कि जो उसने पाया है, वह जो प्राप्त कर सकता है, उसकी तुलना में नहीं के बराबर है। अगर वह अपने हृदय में नई वस्तुओं के लिए अभीप्सा लेकर जीवन मार्गों पर अग्रसर हो सके तो उसे उन सब वस्तुओं की प्राप्ति हो सकती है जो उसके जीवन को रूपान्तरित करने में, ऊँचा उठाने में समर्थ होंगी। एक नये युग में, स्वर्णिम युग में संसार प्रवेश कर रहा है। जिसकी देन अद्भुत, अप्रत्याशित होगी। जिस क्षण में वह इस समय श्वास ले रहा है यह देव-मुहूर्त्त है। उसके हर श्वास में अतिमानसिक चेतना उसके अंदर प्रवेश कर रही है। यह दिव्य देन, यह अलौकिक वरदान पृथ्वी के प्राणियों को अनायास प्राप्त हो रहा है। यह घड़ी युगान्तर की है। प्राचीन पीछे छूट रहा है। नई वस्तुएँ पृथ्वी के वातावरण में पदार्पण करने जा रही हैं। यह प्रसंभाव्य ही नहीं, सुनिश्चित है कि मानव का अतिमानसिक चेतना में उत्थान ही संसार को वह स्वर्णिम कुंजी प्रदान करेगा जो उसके लिए अब तक बंद पड़े स्वर्गिक द्वारों को खोल देगी। अतिमानस की उपलब्धि मनुष्य को

अहंमय सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठायेगी। मुक्त चेतना में उसका निवास संभव बनायेगी। अतिमानसिक चेतना के प्रभाव में मानव स्वार्थ-भावना से बाहर आयेगा। विश्व-कल्याण उसके चिंतन में प्रथम वस्तु का स्वरूप ग्रहण करेगा।"

संपूर्ण मानव-जाति में अतिमानस के प्रति उद्घाटन ही वह कर्म है जिसके द्वारा संसार अपनी सब समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकता है। उसके प्रति ग्रहणशीलता का भाव ही उसे ज्ञान तथा अज्ञान के मिश्रित वर्तमान जीवन-स्तर से ऊपर उठाने में समर्थ होगा। तभी संसार का रूपांतर, अर्थात् पृथ्वी पर दिव्य जीवन संभव हो सकेगा। मनुष्य की चेतना उत्थान लाभ करेगी। वह मनुष्य से श्रेष्ठ एक देव-जाति में पदार्पण करने का अधिकारी होगा।

— ——

हे मेरे सर्वस्व ! हे जग-जीवन धन ! भले ही मेरे पास अपना कहने को कुछ नहीं, कारण, यह सब तेरा है। तुझे सौंपा जा चुका है। फिर भी अगर तेरी गोद में मेरा अस्तित्व है तो मैं उसे दांव पर लगाता हूँ जिसके फलस्वरूप मानव मात्र आत्मा के प्रभाव में रहेगा। उसका जीवन-पथ आत्मा के आलोक से आलोकित होगा। वह जीवन के सर्वोच्च लाभ से लाभान्वित होगा। मैं किसी भी रूप में इसका मूल्य चुकाने को तैयार हूँ। मैं इसके लिए बिक सकता हूँ। सब कुछ करने को उद्यत हूँ।

नई आध्यात्मिकता

नई आध्यात्मिकता अतिमानसिक चेतना से ओत-प्रोत होगी। आध्यात्मिकता के नये स्वरूप में हमारे विचार, भाव, कर्म अंतःप्रेरित होंगे। समर्पण का भाव ही जीवन का विशिष्ट आधार-स्तंभ होगा। भागवत-आदेश की चरितार्थता मानव-जीवन में सर्वोपरि स्थान ग्रहण करेगी। नई आध्यात्मिकता हमें एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती है। हमें जगत माया की रचना अथवा मिथ्या आकारों का एक प्रवाह मात्र भासित नहीं होता। संसार में कष्टों को देखकर उसे त्यागते नहीं, वरन् त्याग की भावना के स्थान पर उसमें परिवर्तन लाने का भाव हमारे अंदर जागता है। मानव जीवन की क्षण-भंगुरता, प्रकृति के नियमों की कठोरता देखकर पलायन अथवा संन्यास का भाव नहीं उठता, इसके विपरीत इसे दिव्य बनाने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। हम देखते हैं कि संसार में उच्च चेतनाओं का अवतरण संभव बनाना ही वह कर्म है जिसे सम्पन्न करने में हमारी आत्माएँ सर्वाधिक प्रसन्नता अनुभव करती हैं। और यही वह है जिसे नई आध्यात्मिकता आज हमारे सम्मुख लक्ष्य रूप में रख रही है। तभी अवतरण के फलस्वरूप ही मनुष्य जाति में से एक नई जाति, जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानव जाति कहा है, विकसित होगी।

———

एक समाधान

मैं मनुष्यों की कष्टपूर्ण अवस्था पर चिन्ता कर रहा था। मनुष्य कितने दुखी हैं, कितनी तरह से दुखी हैं, मैं कल्पना में भी उनकी पीड़ित स्थिति के साथ तादात्म्य नहीं कर पा रहा था। वह स्थिति असह्य थी। मैंने ऊपर की ओर दृष्टि घुमायी, करबद्ध खड़ा रहा। हृदय रुदन कर रहा था। आँखों में अश्रु जारी थे। मन प्रार्थना में डूबा था। तभी समाधान की किरण मुझे दिखायी गयी। "पूर्ण आत्म-विकास ही समाधान है। आगामी युग में विकासोन्मुखी सत्ता संसार को इसी दिशा में गति प्रदान करेगी। आत्म-विकास में प्रथम स्तर पार करते ही व्यक्ति, विश्व-मानव की चेतना में उठ जाता है, उसकी व्यक्तिगत तथा समाजगत सब समस्याओं का अंत हो जाता है।"

अगर मनुष्य अपने चेतना-विकास में पर्याप्त ऊँचा उठ सके, अतिमानसिक चेतना में अपना निवास संभव बना सके तो वह स्व-सत्ता की सीमाओं से, मानसिक संतापों से, शारीरिक दुख-कष्टों से, यहाँ तक कि जन्म, जरा तथा मृत्यु से भी बाहर आ सकेगा। सब स्तरों पर प्रकृति की शक्तियों से, उनकी दासता से पूर्णतः मुक्त रहेगा। भौतिक स्तर पर भी उसकी सत्ता आत्मा की ज्योति में रूपान्तरित हो जायेगी। हम रूपान्तरित शरीर में, जो कि दिव्य होगा, अपना जीवन यापन करने में समर्थ होंगे। प्रथम हमें अतिमानस को उपलब्ध करना होता है, जो चेतना के आरोहण से संभव है। तत्पश्चात् उसका

अवतरण अपनी सम्पूर्ण सत्ता में, अपने निम्नतम भाग शरीर में भी संभव बनाना होगा। अतिमानसिक ज्योति के सहयोग के बिना शारीरिक रूपान्तर असंभव है। रूपान्तरित व्यक्ति को श्रीअरविन्द ने अतिमानव की संज्ञा प्रदान की है। अतिमानव जाति मनुष्य जाति में से ही एक विशेष साधन-प्रक्रिया के द्वारा विकसित होगी, अतिमानव के लिए दिव्य चेतना में निवास स्वाभाविक होगा, जैसे मानसिक चेतना में निवास मनुष्य के लिए स्वाभाविक है।

संसार में स्वर्ग का साम्राज्य, आत्मा की दिव्यता लाने के लिए जो हम कर रहे हैं, जिसका चुनाव हमारे मन के द्वारा है, पर्याप्त नहीं है। यह करते हुए हम लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकते। जिन कर्मों के करने से, अर्थात् जिस भाव में उठकर करने से लक्ष्य प्राप्ति होती है वह भाव दूसरा है। वह आत्मिक होता है। विश्वमय होता है। निर्वैयक्तिकता में उपजा, जल से ऊपर उठे कमल की भांति, हमारे अंदर स्थित, विशाल, मुक्त चेतना का प्रकटन, उसका प्रस्फुटन होता है।

मनुष्य को मूल्य चुकाना होगा अर्थात् वर्तमान, क्षुद्र व्यक्तित्व को प्रभु को समर्पित करना होगा, तभी उसका चेतना स्तर उच्च, विशाल बनेगा। तभी वह अतिमानसिक चेतना में प्रवेश का अधिकारी हो सकेगा।

दयावान् भव

आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर का आदेश-पालन प्रथम कर्तव्य होता है। इसी में मानव आत्मा सर्वाधिक 'आंतरिक संतुष्टि अनुभव करती है। देश-सेवा अथवा समाज-सुधार आदि कर्म उत्तम हैं। फिर भी जहाँ आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न आता है– जहाँ प्रभु को पूर्ण समर्पण ही पथ है, वही सिद्धि है– वहाँ स्थिति भिन्न हो जाती है। हम किसी भी कर्म का चुनाव स्वयं नहीं कर सकते। हर चुनाव के लिए, हर मोड़ के लिए प्रभु पर निर्भर करना होता है। आध्यात्मिक पथ का यही शास्त्रोक्त नियम है। हमें हर कर्म को करने से पहले प्रभु-आदेश की प्रतीक्षा करनी चाहिये। प्रभु-आदेश-पालन ही मानव धर्म है।

हे मानव ! तू कोई भी ऐसा कर्म न कर जो तेरी आत्मा पर पर्दा बने, जो पर्दा है उसे और घना करे। तेरी सत्ता के सत्य से दूर ले जाये। परमात्मा को, कर्तव्य को भुला दे।

तू दयालु बन ! कभी भी किसी भी परिस्थिति में दया करना न भूल। दयालुता का भाव तेरे रोम-रोम में ऐसा भर जाये कि स्वप्न में भी तू उसे न भूल सके। यह समझ कि संसार में दया, जो भागवत प्रेम से उपजती है, उन्हें ही प्राप्त होती है जो त्याग-तपस्या तथा समर्पण के द्वारा अपना पर्दा हटाते हैं, क्षुद्र, सीमित व्यक्तित्व की परिधि से ऊपर उठते हैं। प्राणिमात्र को सुखी करने में अपने सुखों का बलिदान करते हैं।

दयालुता भगवत्ता है।

दिव्य हंस - आत्मा का प्रतीक

जितना अधिक हम आत्म-चेतना में, आत्म-सत्य में प्रवेश करते हैं उतना ही देखते हैं कि इस चेतना से, इस सत्य से अब तक हम कितने दूर थे और कितने दूर दूसरे हैं, यह संसार है। आंतरिक दृष्टि में इस संसार का स्वरूप इतना भिन्न है कि हमारे लिए उसकी कल्पना करना असंभव है। अंतर्मुख होते ही, अपने प्रथम दृष्टिपात में, हमारी चेतना के लिए यह संभव है कि उसे सब मिथ्या भासित होता हो। संसार की वस्तुएँ, पदार्थ, ये सब प्राणी खोखले-से अर्थहीन, निस्सार एक प्रवाह में बहते नजर आयें। किन्तु अगर हम धैर्य रखें और अधिक ऊँचे, और अधिक गहन स्तर पर स्थित हों, तो हमारी दृष्टि में पुनः भिन्नता आती है और हम इन वस्तुओं तथा प्राणियों में भगवद् दर्शन करते हैं। वह जल में रुई, रुई में जल की भांति इनकी सत्ता में ओत-प्रोत है। सर्वत्र एक आत्मा को व्याप्त पाते हैं। सब उसमें डूबे हैं। यहाँ सब परमात्मा गोचर होते हैं। उन्हीं का संकल्प अभिव्यक्त होता हुआ देखते हैं। उससे बाहर कुछ नहीं। सब वही, सबकी सत्ता वही। सब रूप उसके द्वारा अपने ऊपर मुखौटों की भांति ग्रहण किये हुए दिखायी देते हैं। वह दृष्टि हृदय को असीम उल्लास प्रदान करती है। हम झूम उठते हैं। आनंद-विभोर हो जाते हैं। मानों हम पृथ्वी के प्राणी नहीं हैं। मानों चारों ओर सब स्वर्ग है। हम स्वर्ग में रह रहे हैं। सारी सत्ता पूर्ण आश्वस्त हो जाती है। हम अपने आपको कुछ फैले हुए

से पाते हैं। लगता है हम एक फूल थे जो अब तक खिला नहीं था। अब पूरा खिल गया है। वृहत् बन गया है। हम धरती पर रहते हुए भी उससे ऊपर अनुभव करते हैं। मानों एक विराट हंस अपने विशाल पंख खोलकर अनंत व्योम में मुक्त-भाव मंडरा रहा है। जिसकी आंतरिक चेतना जानती है कि मैं केवल हंस ही नहीं, यह अनंत व्योम भी हूँ। सब मैं हूँ, मेरा विस्तार है।

समर्पण का भाव तूने मुझे समझाया। "समर्पण शब्द नहीं, एक स्थिति है। तुम समर्पण की स्थिति को समझने के लिए पंचभूत का उदाहरण ले सकते हो। वे संसार में समर्पण की प्रतिमूर्ति हैं। सृष्टि को समर्पित हैं, प्राणी मात्र के लिए समान भाव से सुलभ हैं। उनमें स्थित दिव्य सत्ता निरभिमान मेरे विधान का पालन करती है। तुम बांसुरी की भांति अपने आपको मेरे हाथों में छोड़ दो।" मैं गद्‌गद् था। हृदय आश्वस्त था। मुझे स्वीकार कर लिया गया है। उसकी मधुमय मुस्कान भरी मुख-मुद्रा मुझे सौ-सौ बार यह कह रही थी।

आत्म-विजय

गंगा के शीतल किनारे ने मुझे सहायता नहीं की। पर्वत की शांत कंदराओं में मेरी समस्या बनी रही। सिंधु तट पर भी मानसिक सीमाएं कचोटती-काटती रही। मंदिर, मठ, आश्रमों में भी चित्त वृत्तियाँ वैसी ही बनी रही। आचार्यों के, महापुरुषों के, अवतारों के जन्म और मरण स्थानों पर मस्तक रगड़ा किंतु भीतर पर्दा ज्यों का त्यों बना रहा। सुंदर वातावरण भी मिले जो दिव्य स्पंदनों से स्पंदित थे। किन्तु नहीं, इस या उस रूप में समस्या सामने आती रही। पृथकत्व का भाव गया नहीं, अहमात्मक व्यक्तित्व मिटा नहीं। मैं अपने-आपको एकत्रित न कर सका। भीतर डुबकी की की तो बात ही क्या, प्रवेश भी न पा सका।

लेकिन एक दिन प्रभु-कृपा मेरे ऊपर बरसी, मेरी तपस्या ने अपना स्वर्णिम फल पाया। एक भयंकर संकल्प मेरे अंदर उठा, एक अदम्य उत्साह ने मुझे झकझोर दिया। मुझे अब तक का अपना सारा जीवन, सारा व्यक्तित्व पराया लगा। मैं उसके खोखलेपन को सहन न कर सका, जीवन और चेतना के स्तर से घुटन होने लगी, अहंकार का शासन, संसार के सुख-भोग काटने लगे। एक ही क्षण में मैंने निश्चय किया। मैं उठा और एक नाटक के नायक की भांति जीवन मंच पर आया, खड्ग खींचा और एक ही वार में, अपनी आत्मा के चिर शत्रु,

आत्म-स्वतंत्रता के पथ में मेरे प्रथम और अंतिम बाधक, अहंकार और वासना को, उनके सेवक और सेविकाओं सहित सदा के लिए समाप्त कर दिया। अब मन शांत है, सबल है, स्वस्थ है, प्रसन्न है। अब मैं सही निर्णय लेने में सही दिशा का चुनाव करने में समर्थ हूँ। मेरे हृदय और मन के द्वारा आत्मा की ज्योति साकार होने लगी है, मैं उसे समर्पित हूँ।

हर व्यक्ति अपनी दृष्टि में, अपने ढंग से अपने आपको सही समझता है। लेकिन जब तक हमारा निवास पृथकत्व की चेतना में है, अहमात्मक व्यक्तित्व में है, तब तक हम अज्ञान में भटकते हैं, सही मार्ग का ज्ञान हमें नहीं होता। मार्ग टटोलते हैं, उसकी प्राप्ति से दूर हैं। उस पर आरूढ़ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि हम सही हैं, हमारा मनोभाव सही है, हमारा पथ निर्भ्रांत है। कारण, निर्भ्रांत पथ वही है जो आत्मा के द्वारा निर्दिष्ट है। जब हम मन, अहंकार तथा इंद्रियों के द्वारा निर्मित बाह्य सत्ता के स्थान पर अंतः सत्ता से प्रेरित-चालित होते हैं तभी हम सही होते हैं, कर्मों में हमारा भाव सही होता है अर्थात् आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति होता है। शास्त्रों में मानव जीवन का सही स्वरूप इसे ही कहा गया है।

बुद्धिमत्ता पर्याप्त नहीं

बुद्धिमान व्यक्ति की कठिनाई यही है वह समझता है, उसे वस्तुओं का ज्ञान है। घटनाओं के रहस्य को, उनके आंतरिक अर्थ को, देखने-समझने में पूरी तरह से समर्थ है। हम मानते हैं अपने विचार में वह सही हो सकता है। लेकिन जब उन्हीं वस्तुओं को और घटनाओं को एक आत्म-ज्ञानी, समग्र दृष्टि प्राप्त आध्यात्मिक व्यक्ति, जो वस्तुओं को उनके मूल स्वरूप में, उनकी आंतर सत्ता के साथ देखता है, तो उसकी तुलना में हमें कहना होता है कि संसार का सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान व्यक्ति अपने ज्ञान अर्जन में अभी शिशु है। बाह्य व्यक्तित्व की परिधि में बंद अज्ञानी है। आत्म-ज्ञानी द्रष्टा होता है। वस्तुओं और घटनाओं के आंतर और बाह्य स्वरूप और सत्य को देखने में समर्थ होता है। परमार्थ तत्व के साथ उसकी आत्म-अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि के ज्ञान पर अधिकार रखता है। आध्यात्मिक व्यक्ति को सृष्टि के सारे रहस्य ज्ञात होते हैं। चरम एकत्व में उसका स्थाई निवास होता है। वह अपने आपको व्यक्ति, विश्व एवं परात्पर इन तीनों स्तरों पर एक साथ देखने में, एकत्व में स्थित रहते हुए जगत में व्यवहार करने में भली प्रकार समर्थ होता है। जो आत्मा को सत्य और जगत को मिथ्या देखता है उसकी दृष्टि सीमित है, अपूर्ण है। उसका ज्ञान एकांगी है, एकपक्षीय है। जब आत्मा इस जगत के कण-कण में विद्यमान है, हर वस्तु में स्थित है, तो वस्तु मात्र आत्मा का आवरण हुआ। उदाहरणार्थ, मेरी आत्मा के लिए

मेरा शरीर उसका आवरण है। मेरे लिए मेरी आत्मा सत्य और मेरा शरीर मिथ्या नहीं हो सकता। स्तर-भेद हो सकता है। स्तर-भेद से अथवा, अवस्था-भेद से, पदार्थ मिथ्या नहीं हो सकता। दोनों के मूल्यों में, महत्व में अंतर हो सकता है।

सृष्टि में आत्मा मौलिक सत्य है, पारमार्थिक सत्य है जो अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है। मेरा शरीर अभिव्यक्ति रूप सत्य है, व्यावहारिक सत्य है जो विनाशी है, परिवर्तनशील है।

बुद्धिमत्ता नहीं, चेतना का विकास हमें आत्मा की पूर्णता में उठायेगा, मुक्त चेतना में निवास संभव बनायेगा।

जब भक्ति का प्रवाह उमड़ता है प्राणी मात्र में प्रभु का दर्शन करता हूँ। उनकी दिव्य उपस्थिति को देख कर हृदय आनंद-विभोर हो उठता है। प्रभु मेरे अस्तित्व के अस्तित्व हैं, जीवन-स्वामी हैं। मैं उनको समर्पित हूँ। वे जगत पिता हैं, सब उनकी संतान हैं। इस सृष्टि की रचना उन्होंने की है। सृष्टि रूप में वे ही हैं। प्राणी मात्र में जीवन, चेतना तथा विकासोन्मुखी आत्मा वे हैं। श्रुति-शास्त्र कहते हैं कि जो विविधता हमें गोचर होती है, वह इसलिए कि वह एक अद्वितीय पुरुष अपने आपको अनेक रूपों में देखना चाहता है। वास्तव में उसके सिवाय यहाँ अन्य कोई नहीं है।

हे मानव ! जगत रूप प्रभु की इस आत्म-अभिव्यक्ति के हर कण में उनकी पूजा कर। यही संसार में जीवन जीने का नियम है, सृष्ट वस्तुओं में अंतर्निहित विधान है।

सचेतनता – सफलता की कुंजी

हम सत्संग करते हैं, प्रवचन और सुंदर प्रेरणादायक कथाएं सुनते हैं। आश्रमों में जाते हैं। वहाँ के वातावरण की शक्ति, वहाँ की चेतना के स्पंदन हमें झकझोर देते हैं। हमारी अंर्तसत्ता सम्मुख आ जाती है। भूलों के लिए क्षमा मांगते हैं। भविष्य में उन्हें न दुहराने के लिए प्रण करते हैं। और अंत में एक पश्चाताप के रूप में प्रभु को वचन देते हैं कि आज से हम तुम्हें सदा स्मरण रखेंगे और एक समर्पित जीवन, जिसमें हर पग तेरी प्रेरणा से ही उठाया जाएगा, यापन करेंगे। लेकिन जैसे ही हम सत्संग भवन से बाहर आते हैं, मनुष्यों से, वस्तुओं से घिर जाते हैं, उनसे व्यवहार करते हैं, हम दूसरे हो जाते हैं। स्तर बदल जाता है। चेतना नीचे आ जाती है। जो दिव्य देन प्राप्त की थी, जो संकल्प लिए थे, सब पीछे छूट जाता है और हम वही पुराने व्यक्ति, पुराने अभ्यासों से युक्त, मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं को, मन, हृदय में धारण किये जीवन मार्गों पर चलने फिरने लगते हैं। जो जागृति आई थी, जो उपलब्धि हुई थी, सब स्वप्न-समान हो जाती है।

क्या, हमने कभी सोचा है, कि ऐसा क्यों? चेतना के इस पतन का कारण क्या है और पतन की इस संभावना को हमेशा के लिए मिटा देने का उपाय क्या है?श्रीमाताजी की शिक्षा में हम देखते हैं कि पतन का कारण हमारे अंदर है। हमारे स्वभाव में सचेतनता का अभाव है। सचेतनता जीवन-कला है, सफलता की कुंजी है।

अंतर्मुखता

अंतर्मुखता की ब़ात हमें कही गई है। लेकिन यह कार्य उतना सरल नहीं है जितना हम समझते हैं। जन्म-जन्मांतरों से बहिर्मुखी जीवन यापन करते-करते हम उसके अभ्यस्त हो गये हैं। अब जीवन-धारा को अंतर्मुखी करना एकदम स्वभाव के विपरीत लगता है। हमें वह होना होता है जो कभी न थे। बिल्कुल भिन्न व्यक्ति, जिसके जीवन जीने का स्वरूप तथा प्रयोजन सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। दृष्टिकोण बदलता है, मूल्य बदलते हैं, सुख प्राप्ति के स्थान दूर खिसकते, अपने रंग-रूप तजते, नजर आते हैं। रूपों के पीछे हम अरूप को संबोधित करने की चेष्टा करते हैं। आकारों में, उनके भीतर निराकार का सम्मान करते हैं। हमारे सब व्यवहार उसी के साथ होते हैं अपने-आपको मन-शरीर-इंद्रियाँ न मानकर इनके पीछे स्थित एक दिव्य पुरुष मानते हैं। उसे जीवन स्वामी के रूप में स्वीकार करते और उसे अभिव्यक्त करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। अब अहंकार पर आघात पड़ने से हम विचलित नहीं होते, झुंझलाते नहीं। इच्छाएं कभी उठ सकती हैं लेकिन उनकी पूर्ति के स्थान पर हम उन्हें प्रभु को अर्पित करते हैं। मनोमय पुरुष अब सत्ता का नेता नहीं है, उसका युक्ति-तर्कों के तीरों से भरा तरकश खाली है। मोह-आसक्ति और स्वार्थ के जाल अब नहीं फेंके जाते वे सब उसे तजने पड़ते हैं। हिंसा, द्वेष के स्थान पर स्नेह भरा व्यवहार उसे करना पड़ता है। कहीं

भी चुनाव अथवा निर्णय मन तथा अहंकार के हाथ में नहीं है। सब अंतःस्थित देव के ऊपर निर्भर करता है। उसके आदेश की प्रतीक्षा की जाती है। उसके आदेश का पालन ही जीवन है। शांति, समता बनाये रखने होते हैं। चित्त एकाग्र रहता है। हम पूर्ण सजग भाव में स्थित रहते हैं, जहाँ भागवत उपस्थिति की अनुभूति स्वाभाविक है। सत्ता पर पूर्ण नियंत्रण रखते हैं, वाणी, कर्म, विचार पूर्ण संयमित। हमारी हर क्रिया, हर चेष्टा, जीवन लक्ष्य की सिद्धि की ओर एक पग होती है। पूर्ण सचेतनता के साथ, जीवन की हर गति को आहुति का रूप प्रदान करते हैं, जो विश्व पुरुष को समर्पित होती है। किस समय, किस प्रभाव में होते हैं, किन शक्तियों द्वारा संचालित होते हैं, इसका ज्ञान हमें रहता है। हर क्षण अंतर्सत्य के साथ समस्वरता हमारा जीवन है, उसकी चरितार्थता जीवन में प्राण है।

हे मानव ! सांसारिक पदार्थों का भोग नहीं, आत्मा से योग तेरा लक्ष्य हो। जीवन में आंतरिक खोज को लक्ष्य रूप में निर्धारित कर। ऊर्ध्वारोहण का पथ चुन। इतना समझ कि बाह्य व्यक्तित्व के बढ़ने से, यह अॅनिवार्य नहीं कि आंतरिक व्यक्तित्व भी वर्धित होता हो। हाँ, यह तथ्य है कि आंतरिक व्यक्तित्व के बढ़ने से बाह्य व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है, वह उत्थान लाभ करता है। ध्यान रख ! जो व्यक्ति अपने सच्चे स्वरूप के प्रति सचेतन नहीं, जिसका उसमें निवास नहीं वह शब्द के सही अर्थ में मनुष्य कहलाने के अधिकार से अभी दूर है।

ज्ञान आचरण का विषय

बुद्धि का झुकाव अध्यात्म की ओर होते ही वह शास्त्रों के अध्ययन में रस लेती है। शास्त्र-ज्ञान से वह इतनी प्रभावित हो जाती है कि इससे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु संसार में उसे नजर नहीं आती। यहाँ भी हमें सावधान रहना होता है। बौद्धिक ज्ञान से, बौद्धिक अहंकार का पोषण होता है जो कि अपने आपमें एक भयंकर वस्तु है। अगर अभीप्सु पूर्णतः समर्पित नहीं है तो वह अहंकार के प्रभाव में आ जाता है और उसका जीवन बौद्धिक अहंकार की अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। एक तीव्र महत्वाकांक्षा उसके अंदर उठती है और मन तथा हृदय को प्रभावित कर लेती है। एक सुंदर, सुनहरे आवेश के द्वारा हम अधिकृत हो जाते हैं। हम वह ज्ञान दूसरों को सुनाना, दूसरों में वितरण करना चाहते हैं। जिसका व्यवहारिक रूप होता है, हम अपने आत्म-कल्याण को भूलकर, प्रभु के निर्णय पर निर्भर न कर, सब निर्णय स्वयं लेने लगते हैं। जीवन-मार्गों पर चलने के लिए चुनाव हमारा होता है। और उस चुनाव का स्वरूप भी शास्त्रीय नहीं प्रत्युत्, वह होता है जो हमें उचित प्रतीत होता है।

सर्व प्रथम प्रवचन करने की प्रवृत्ति हमारे अंदर जन्म लेती है। वक्ता होने की अभिलाषा जागती है। अंत में एक गुरु बनने की आकांक्षा, सर्पिणी की भांति अपनी कुंडलियाँ खोलती हुई हमारे सम्मुख सीधी खड़ी हो जाती है और अपने विषैले श्वासों

से हमारे आंतरिक और बाह्य वातावरण में व्याप्त चेतना रूप प्राणवायु को प्रभावित कर देती.है। एक सात्विक अहंकार से भरा आवेग हमारा एक मात्र पथ-प्रदर्शक होता है। और बजाय इसके कि हम शास्त्र को अपने जीवन का अंग बनायें, उसे जीवन में, हर कर्म, हर भाव, विचार में उतारें, व्यवहार में लायें, उसके अनुसार अपने स्वभाव को रूपांतरित करें, हम उसे दूसरों को सुनाने, उनमें वितरण करने, उसके द्वारा दूसरों में परिवर्तन लाने की प्रवृत्ति में फंस जाते हैं। मानों वह ज्ञान हमारी सीमित चेतना के लिए, हमारी अर्ध-प्रकाशित बुद्धि के लिए धारण करना कठिन हो। उसमें अपूर्णता का द्योतक, एक छिद्र हो और जो भी वह ग्रहण करती है सब नीचे बह निकलता हो।

संयम की समग्रता में हमें बुद्धि को भी संयत करना सीखना होता है। अंतस्थ देव के चरणों में समर्पण का भाव, बुद्धि की स्वाभाविक गति होनी चाहिए। हमारी बुद्धि नमनीय हो, उद्‌घाटित हो, मान्यताओं से, स्वाभाविक अभिरुचियों से, रूढ़िगत सिद्धातों और संस्कारों से मुक्त हो, ऊपर हो। हमें इस तथ्य का मूल्य समझना है कि सारी सत्ता की गति ऊर्ध्वमुखी होने के दिव्य प्रयोजन में, बुद्धि का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है।

चेतना के परिवर्तन से, उसके विकास से मानव अपनी स्वाभाविक संकीर्णताओं से ऊपर उठता है। विश्व-चेतना की विशालता में आरोहण करता है। उसमें निवास उसका स्वभाव बन जाता है।

आत्म उपलब्धि की ओर

इस संसार में आत्म उपलब्धि से महान तथा मूल्यवान अन्य कुछं नहीं है। हमें चाहिए कि सब ओर से ध्यान हटाकर इसी एक विषय पर एकाग्र हों। अपनी सत्ता और जीवन में आत्म-परिपूर्णता लाने के लिए, आत्म उपलब्धि प्रथम एवं अनिवार्य शर्त है। जब तक यह सिद्ध न हो जाय हमें अपने चारों ओर के जगत में अपना प्रवेश, अपना व्यवहार, अपने संबंध सीमित ही रखने चाहिए। अपनी प्रगति के लिए जितने आवश्यक हों उतने मात्र रखने हैं। दूसरों के सुख की चिंता करना, उनकी सुविधा-असुविधा का दायित्व लेना, अपने ढंग से उनका मार्गदर्शन करना, समाज में सत्य और न्याय के लिए आंदोलन करने-कराने इत्यादि बातें ऐसी हैं, जो उचित तो हैं लेकिन जिनमें पड़कर हम अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं।

सर्वप्रथम हमें ईश्वर की इच्छा को जानना चाहिए। इस जगत के पीछे उनका जो दिव्य संकल्प क्रियाशील है उसके विषय में सचेतन होना चाहिए। हमारे हृदय का पर्दा हटने पर, अंतर ज्योतिर्मय होने पर ही, हम आत्म-धर्म, वस्तु-सत्य, मानव हित, जगत कल्याण आदि शब्दों की परिभाषा ठीक-ठीक जानने में सफल हो सकते हैं। इससे पहले अधिक से अधिक एक सात्विक भाव का आधार ले सकते हैं जो हमारे लिए, इन चीजों का मानदंड बन सकता है। लेकिन सात्विकता की भी अपनी सीमा है। वह आत्म-ज्ञान की भांति वस्तुओं का

आंतरिक सत्य और धर्म हमारे सम्मुख खोलने में सक्षम नहीं है। सात्विक दृष्टि में वस्तुओं के आंतरिक सत्य को प्रदर्शित करने की क्षमता नहीं होती। सब कुछ एक आंशिक सत्य के सहारे, सीमित दृष्टि के आधार पर नापा-तौला जाता है। सात्विकता हमारे मन के चारों ओर अपने भाव की, अपने दृष्टिकोण की परिधि बना देती है। जिसमें वस्तुओं और घटनाओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण पूर्णतया अवरुद्ध एवं सीमित हो जाता है। हम उनके आध्यात्मिक सत्य तक नहीं पहुँच पाते।

व्यक्तिगत स्तर पर साधक को अपनी चिंता, यहाँ तक कि अपनी उन्नति की चिंता भी समर्पित करनी होती है। समस्त जीवन, जीवन की उपलब्धियाँ, सब समर्पित होना चाहिए। हमारे जीवन का, हमारे कर्तव्य का स्वरूप होना चाहिए प्रभु-प्राप्ति, उनमें निवास, उनके इंगित पर दिशा-निर्धारण। हमें हर क्षण यही भाव बनाये रखना है। इसी भाव से जीवन मार्गों पर हर कदम उठाना है। एक बार जब हम लक्ष्य के प्रति और साधन-क्रिया के प्रति सचेतन हो जाँय तब हमें पूर्ण एकाग्रता में प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए। श्रेष्ठ धनुर्धर धनुष खींचकर लक्ष्य-वेध के लिए जैसे लक्ष्य को त्याग अन्य किसी वस्तु तथा दिशा की ओर नहीं देखता, उसी प्रकार साधक को भी चाहिए कि वह अपने साक्षात्कार रूपी लक्ष्य को तजकर अन्य किसी दिशा में दृष्टि न घुमाये। यह भटकाव है, जिससे हमें बचना है।

हमें बताया गया है कि भगवान को प्राप्त करने के पश्चात् उनके संकल्प के प्रति सचेतन होकर ही हम हर कर्म और दिशा का सही चुनाव कर सकते हैं। सत्य और असत्य का निर्णय करने की, उचित या अनुचित को परखने की, प्रभु इच्छा को जानने की क्षमता हमें प्राप्त होती है। हम निर्भ्रांत जीवन-पथ पर बढ़ते हैं। आंतरिक सत्य की चरितार्थता हमारे जीवन का स्वरूप होता है और इसी दिशा में हम दूसरों को प्रोत्साहित करते और जहाँ आवश्यक हो, उनकी सहायता करते हैं। दूसरे अर्थात् वे, जो अब हमें अपनी ही आत्मा के रूप, हृदय में नारायण को धारण किये हुए नर-नारी, आवागमन के चक्र में घूमते हुए जीव, विकास-पथ पर बढ़ती हुई आत्माएं दिखायी देते हैं। प्रभु-संकल्प की चरितार्थता ही हमारा जीवन, जीवन का हर कर्म तथा चेष्टा का रूप होता है। मानव मात्र के मंगल में संलग्न रहना हमारी आत्म-संतुष्टि का आधार, उसका कारण होता है।

अगर तुमने एक बार भी कह दिया कि प्रभु मैं तुम्हारा हूँ और पूर्ण रूप से तुम्हारा होना चाहता हूँ, तो तुम्हारा नाम प्रभु के अपने प्रियजनों में लिखा जा चुका है। तुम बंध गये, प्रभु-कृपा तुम्हारे साथ है। अब तुम दूर जा सकते हो, छूट नहीं सकते।

महान बनें

संसार की सभी जातियाँ महापुरुषों को सम्मान प्रदान करती हैं। उनकी तस्वीरें लगाती हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो उन्हें भगवान मानती हैं, उनकी पूजा करती हैं। वे करें। सभी अपनी-अपनी भावनाओं में स्वतंत्र हैं। कुछ भी हो यह तथ्य है कि सभी उनकी शिक्षा को अपनातीं, उसके अनुसार अपने जीवन तथा कर्मों को नया रूप प्रदान करती हैं।

क्या हमने कभी सोचा है कि एक व्यक्ति महापुरुष कैसे बनता है ! कहाँ से यह महानता उसमें आती है ! कैसे वह इसे प्राप्त करता है ! अगर हमारी समझ में यह बात आ जाये तो कोई भी व्यक्ति महापुरुष बन सकता है। अधिकारी इसके सभी हैं। बीज रूप में संभावना सभी के अंदर है। किन्तु, इसका मूल्य चुकाने के लिए सभी तैयार नहीं होते।

शास्त्रों के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो सदाचारी है, आत्म-संयमी है, दया, क्षमा तथा परोपकार की भावना से युक्त है, जिसने काम-क्रोध को, राग-द्वेषादि को जीता है, जो शास्त्रोक्त जीवन का पालन करता है, ब्रह्मचर्य की ओर जिसका स्वाभाविक झुकाव है, अहिंसा, सत्य, विनम्रता से हृदय पूर्ण है, जिसकी वृत्तियाँ अंतर्मुखी हो गयी हैं, जो श्रद्धावान है, तन-मन, अंतःकरण से ईश्वर को समर्पित है। पुरुषार्थ में विश्वास करता है। जग-जन-मंगल-भावना जिसके हर कर्म में आगे चलती है। क्रोध, स्वार्थ-भावना तथा अहंकार जिसे स्पर्श नहीं कर पाते,

ऐसा ईश-परायण व्यक्ति, आत्म-साक्षात्कार जिसका जीवन-लक्ष्य है, उसी की प्राप्ति की दिशा में जिसका जीवन प्रवाहित है, महापुरुष बनता है। आत्मा ही महान है। आत्म-उपलब्धि से युक्त हर व्यक्ति महापुरुष, महामानव होता है। श्रेष्ठ आचरण से, हृदय-स्थित आत्मा के प्रति समर्पण का भाव अपनाने से, उसके प्रति ग्रहणशील होने से, हमारे हृदय में छिपी महानता प्रकट होती है।

———

हे मानव ! क्रांतिकारी बन। क्रांति के बिना तेरी चेतना में, तेरे जीवन-स्तर में परिवर्तन नहीं आयेगा। आध्यात्मिक स्तर पर इस क्रांति का स्वरूप होगा एक ऐसी चेतना का अवतरण संभव बनाना, जो जगत को स्वीकार करती हो, उसका त्याग नहीं। बौद्धिक स्तर पर सभी पूर्वाग्रहों से ऊपर हो, नमनीय हो। भौतिक स्तर पर मानव जीवन अंतस्थ आत्मा के संकल्प की अभिव्यक्ति का रूप होगा। मनुष्य को अपनी अज्ञानजनित मानसिक चेतना से बाहर आना होगा और एक अतिमानसिक चेतना का अवतरण अपने अंदर संभव बनाना होगा। आत्मा की दिव्यता में उठकर उसकी दिव्यता में अपने वर्तमान जीवन का दिव्यीकरण करना होगा। यही वस्तुओं का आंतरिक सत्य है, उनमें अंतर्गर्भित लक्ष्य है।

यंत्रों को निर्दोष बनायें

इस धरती पर मानव जीवन अभी दोष-त्रुटि और भूलों से भरा हुआ है, और एक विशेष विकास-प्रक्रिया के द्वारा निर्दोषता की ओर अग्रसर हो रहा है। स्वभाव में दोष रहते हुए हम आत्मा को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। आत्म-अभिव्यक्ति मानव-जीवन का लक्ष्य है और यह यंत्र की पूर्ण निर्दोषता की मांग करती है, अन्यथा अभिव्यक्ति अपूर्ण,आंशिक तथा मिश्रित रहेगी। वह सत्य का वही शुद्ध प्रकटन नहीं होगी, जो मूल स्वभाव में संकल्पित है। हम जो कहने का प्रयास कर रहे हैं अगर उसे एक छंदोमयी भाषा में कहें तो उसका स्वरूप इस प्रकार होगा – उस चरम परम एकत्व को हमारी सत्ता के सब अंग अपनी चेतना में तथा अपनी हर कोशिका में धारण करें। जिसने इस सृष्टि को अपने अंदर धारण किया है, उसे इस सृष्टि का कण-कण धारण करे। जिसने इसे निर्मित किया, उसका निर्माण यह भी अपने अंदर करे। जिस दिव्यता ने मन, प्राण, शरीर का रूप लिया, इन्हें भी उसका रूप लेना चाहिये, अर्थात् उसमें रूपांतरित होना चाहिये। इस जगत रूपी रचना के पीछे यही संकल्प, यही उद्देश्य है। प्रभु की इस लीला में यही गुह्य अर्थ छिपा है। जगत रूपी इस नाटक का उपसंहार, अंतिम दृश्य-- वैसे, उस अनंत में अंतिम जैसी कोई चीज नहीं है– इस पृथ्वी रूपी मंच पर जिस प्रकार हमारे दृगों में सुख-सिंचन करेगा, उसका स्वरूप यही होगा।

सृष्टि-सोपान

वैदिक ऋषियों के पश्चात् जो भी दर्शन सुलभ हुए, जो भी मत-मतान्तर मानव के सम्मुख आये, वे चेतना की सीमितता के कारण, एकांगी अनुभूति के कारण प्रारंभ हुए। परम सत्, मूल अस्तित्व, एक अखंड अद्वितीय तत्व है। उसके बहुत से पक्ष हैं, स्तर हैं। उसमें बहुत सी अवस्थाएँ हैं। जब-जब हमने उसके किसी एक पक्ष को देखा, उसे पूर्ण समझा। कारण, परम अस्तित्व की हर अवस्था, उसका हर स्तर, अपने आपमें पूर्ण है, अनन्त है। जिस समय व्यक्ति की चेतना किसी एक अवस्था के साथ तादात्म्य लाभ करती है वह उसकी अनंतता में डूब जाती है, पूर्णतः वही बन जाती है। उस अवस्था का अपना, अपने ढंग का एक एकत्व है जो सब भांति परिपूर्ण है। अतः उसमें निवास के समय अथवा उससे बाहर आने के पश्चात, किसी अन्य प्राप्ति की, किसी उच्चतर उपलब्धि की, उस स्तर को अतिक्रमण करने की, प्रवृति ही हमारे अंदर नहीं उठती। किन्तु, अगर हमारी चैत्य चेतना सभी संस्कारों से, सब प्रकार की दार्शनिक छापों से मुक्त है, और हमारे अंदर आत्म-विकास में अधिक से अधिक ऊँचा उठने की, सभी प्राप्तियों के, चेतना-स्तरों के परे जाने की अभीप्सा अदम्य है तो यह संभव है कि हम अपनी किसी भी प्राप्ति से, आज तक की उपलब्ध किसी भी स्थिति से संतुष्ट न हों और सदैव ऊँचे से ऊँचे स्तरों पर आरोहण करने में संलग्न रहें। अगर हम यह मानते हैं कि

परम अस्तित्व अपने अवरोहण अथवा आरोहण के सोपानों में अनंत है तो कोई कारण नहीं कि हमें कोई भी दर्शन प्रभावित करने में समर्थ हो, अस्तित्व की कोई भी एक अवस्था अंतिम अनुभव हो, जिसे हम अंतिम उपलब्धि अथवा सर्वोच्च प्राप्तव्य मानें। हम सदैव एक ऊँचाई से दूसरी ऊँचाई पर उठने का प्रयास करते रहेंगे, एक स्तर के पश्चात् उससे ऊपर अन्य स्तर को प्राप्त करने में सफल होते रहेंगे। हमारी ऊर्ध्वमुखी यात्रा, परम आत्मा की उच्चतम ऊँचाई में सदैव जारी रहेगी। हमारे विकास के साथ, हमारी उपलब्धियों की भी कहीं परिसमाप्ति नहीं होगी। हमें यह स्मरण रखते हुए विकास पथ पर अग्रसर होना है कि जैसे मूल अस्तित्व एक ओर अनंत है, वैसे ही दूसरी ओर विकास-पंथ भी अनंत है। अगर हम यह कहें कि मूल अस्तित्व इतना मात्र है, यही है, इससे परे नहीं, तो हमें सावधान हो जाना चाहिये कि हम परम आत्मा की अनंतता से, उसके स्वाभाविक सत्य से, जो कि सदा असीम है, दूर जा रहे हैं। हमारा कथन वैदिक ऋषियों के कथन से, उनके द्वारा की गयी सत्य की परिभाषा से दूर होता जा रहा है, जो आनेवाली पीढ़ियों के लिए क्षतिकर सिद्ध होगा। कारण, आनेवाला युग कभी भी, किसी स्थिति में भी, परम आत्मा के विषय में, जिसे कि मूल अस्तित्व भी कहा गया है, किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करेगा।

वेदों में जिनकी श्रद्धा नहीं उनका जीवन अंधकारमय है।

अहंकार अरु वासना

अहंकर रूपी व्याल और वासना रूपी सर्पिणी— एक दैत्य और दूसरी राक्षसी – त्रिलोक में ये दो शक्तियाँ हैं जिन्हें शास्त्रों में मानव आत्मा के शत्रु कहा गया है। उसे उन्नत नहीं होने देती तथा उसे दबाने के प्रयास में संलग्न रहती हैं। इनकी पकड़ हर व्यक्ति पर देखी जाती है। सभी कम या अधिक मात्रा में इनसे प्रभावित रहते हैं। मानव आत्मा इस तथ्य को भली भांति जानता है। हर बार जब वह नये जन्म के लिए पृथ्वी पर अवतरित होता है— निस्संदेह यह केवल विकसित आत्माओं के विषय में ही घटित होता है— हृदय में यह संकल्प लेकर अवतरित होता है "इस बार, इस जन्म में अहंकार और वासना, इन दोनों शत्रुओं पर अवश्य विजय प्राप्त करूँगा।" किन्तु अफसोस ! उसे अपने प्रत्यावर्त्तन में, अपना संकल्प हर बार अगले जन्म के लिए स्थगित करना पड़ता है। उसी संकल्प की पुनः-पुनः आवृति करनी पड़ती है। इसकी इस पराजय का कारण हम स्वयं होते हैं। हमारे कर्मों के कारण, निम्न स्तर की वृत्तियों में हमारी व्यस्तता के कारण, हमारे हृदय में उत्पन्न भोगों में रस और आकर्षण के कारण, हर जन्म में हमारी आत्मा विश्व-प्रकृति की शक्तियों पर काम, क्रोध, अहंकार और वासना आदि पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के बजाय उनसे पराजित होता है और यह चक्र तब तक चलता रहता है, जब तक हमारे अंदर पूर्ण जागृति नहीं आती, जीवन और उसके लक्ष्य के प्रति हम सचेतन नहीं हो जाते।

अशुद्धि ही पर्दा है

आत्म-निरीक्षण सदैव उपयोगी है। एक साक्षी-पुरुष की चेतना में हम उठें और जीवन प्रवाह का सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करें। हृदय पूर्ण स्वच्छ ओर निर्मल हो। मन छल-कपट रहित, इंद्रियाँ संयमित। सुख़ की इच्छा, भोगों की लालसा, प्रतिष्ठा की भावना, प्रमाद की ओर झुकाव, अभिमान-रूपी काला ज्वर हमारी सत्ता के किसी भी भाग में न रहे। हमारी चेतना पूर्ण शुद्ध हो। शुद्धि दृष्टि है, हम आत्मा की आँखों से देखते हैं। अशुद्धि पर्दा है, आत्मा की ज्योति को दूर रखता है। शुद्धात्मा व्यक्ति स्वतः आत्म-सत्य की ओर उद्घाटित रहता है। आत्मा के गुण, उसकी शक्तियाँ, उसके हृदय-मन और प्रकृति में अवतरित होते हैं और उसके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाते हैं। उसकी चेतना को परिवर्तित करते हैं। भागवत कृपा पर निर्भर करता हुआ वह अपना हर कर्तव्य निष्ठा के साथ निभाता है। मन, शरीर, इंद्रियाँ रूपी अपने इन करणों में, इनके स्वभाव में यह परिवर्तन, यह उत्थान सिद्ध करना – जो पूर्ण शुद्धि से संभव होता है – मानव आत्मा का जग-जीवन में लक्ष्य है।

आत्म-उद्घाटन, आत्म-समर्पण एक ही सुनहरी कुंजी के दो पक्ष हैं जो सत्ता के सब द्वारों को खोलने में समर्थ है।

पुरुष भाव

अगर हम दिन का बहुत बड़ा भाग दूसरों के बीच में उनकी इच्छानुसार बिताते हैं और बाकी समय भी हम किसी न किसी कार्य में व्यस्त रहते हैं, चीजों और व्यक्तियों से घिरे रहते हैं, जहाँ कुछ न कुछ यह या वह बातचीत चलती रहती है – चाहे बातचीत का स्तर दुनियावी न होकर कुछ ऊँचा ही हो, चाहे हम उसे आध्यात्मिक ही कहें – फिर भी हम ठीक वही नहीं होते जहाँ हमारे द्वारा चैत्य पुरुष अपने संकल्प को अभिव्यक्त करता है। हमारी चेतना, हमारी स्थिति उस ज्वलंत अभीप्सा का रूप नहीं होती, जिसकी तीव्रता हमें उच्च चेतनाओं से युक्त रखती है। हमारे लिए अंतर्द्वारों का भेदन संभव बनाती है। जिस स्थिति में हम भागवत उपस्थिति के प्रति पूर्ण उद्घाटित रहते हैं, हमें प्रभु संकल्प का, उनकी इच्छा का पूरा ज्ञान रहता है। हमें आत्मिक प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। अंतर्श्रवण सुलभ होता है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आध्यात्मिक पुरुष कर्मों की व्यस्तता में अपनी चेतना के स्तर को बनाए रखने में समर्थ नहीं होता। वह समर्थ है। लेकिन हमारा प्रश्न उन व्यक्तियों से है जो आत्म-विकास के पथ पर अभी मानसिक सीमाओं के भीतर ही हैं। जिन्होंने आध्यात्मिक मन के किसी भी स्तर पर अपना अधिकार प्राप्त नहीं किया, जो सचेतन नहीं हैं, विश्व चेतना में उत्थान लाभ नहीं किया। साधन-पथ पर अभी शिशु हैं और जिन्हें पुरुष बनना है। जब हम विश्व-पुरुष की चेतना

में उठ जाते हैं, अपनी मौलिक भगवत्ता पर हमारा अधिकार हो जाता है। हमारी चेतना सीमित न रहकर विश्वव्यापी, हमारी दृष्टि सर्वग्राही, आत्मा के साथ हमारा तादात्म्य सतत, स्वाभाविक हो जाता है। उस अवस्था-विशेष में हम कह सकते हैं कि हमें आध्यात्मिक स्तर से नीचे खींचने वाला कोई कर्म नहीं हो सकता चाहे वह कितना भी भीषण और भयंकर हो। कारण, चेतना के उस उच्चतम स्तर पर हम चरम आत्म-एकत्व में निवास करते हैं। विश्व हमारा अपना स्वरूप होता है। वहाँ चेतना का बहिर्गमन, ऊँचे-नीचे स्तरों का भेद हमारे लिए नहीं रहता। विश्व हमारी अपनी सत्ता का अंग होता है, अपनी सत्ता में होता है।

— —

हम जो भी श्रेष्ठ कर्म करते हैं, वे तैयारी मात्र होते हैं। जिनके द्वारा हम अपने तथा आत्मा के बीच पड़े पर्दे को हटाते हैं। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए, जीवन-स्वामी की प्रसन्नता के लिए समर्पण का भाव अपनाना होता है। हर कर्म सपर्पित मन-बुद्धि से करना होता है। हृदय-मंदिर पूर्ण शुद्ध, शांत, कामनाओं से रिक्त रखना होता है।

दमन नहीं रूपांतर

आत्म-साक्षात्कार की बात सभी शास्त्रों में कही गई है। हर युग में जिज्ञासुओं ने अपने-अपने स्वभाव के अनुसार, अपनी सत्ता के भिन्न-भिन्न स्तरों पर आत्मा का साक्षात्कार किया, उसकी उपलब्धि की। सभी मार्गों में प्रकृति को उतनी मात्रा में शुद्ध किया जितनी कि सिद्धि के लिए आवश्यक थी। साधना का लक्ष्य मुक्ति, मोक्ष लाभ करना होता था, प्रकृति का रूपांतर अथवा दिव्यीकरण नहीं, जैसा कि श्रीअरविन्द ने अपने योग के लक्ष्य के रूप में चुना है। अब तक सभी जिज्ञासु प्रायः निम्न प्रकृति की हर प्रकार की बाधा से दूर रहने के लिए दमन का ही एक मात्र उपाय के रूप में उपयोग करते थे। श्री अरविंद के दृष्टिकोण से दमन अपने-आप में कोई स्थाई समाधान नहीं है। दमन से प्रकृति के दोष और दुर्बलताएँ मिटते नहीं, वे जीते नहीं जाते, वरन् संस्कारों के रूप में हमारी अवचेतना में एकत्रित रहते हैं। अवसर प्राप्त होते ही ऊपर आ जाते हैं और हमारी चेतना को अधिकृत कर लेते हैं। हम एक बार फिर वही बन जाते हैं, वही जीवन जीते हैं, वही सब करते हैं, जिसे हम एक बार नहीं, कई बार त्याग चुके थे, अपने स्वभाव में से निकाल चुके थे। अतः इस योग में दमन जैसी प्रक्रिया को अंतिम रूप में स्वीकार नहीं किया जाता।

श्रीअरविन्द ने अपने योग का नाम पूर्ण योग रखा है। मानव सत्ता के सब भागों को, उसके निम्नतम भाग शरीर को

भी, अतिमानसिक ज्योति में रूपांतरित करना, उसकी दिव्यता में दिव्य बनाना – जो कि अपने आप में एक नई उपलब्धि है– अपने योग की सिद्धि के रूप में स्वीकार किया है।

अतिमानसिक ज्योति और शक्ति को ग्रहण करने के लिए एक विशेष आधार का होनां अनिवार्य है। हमें व्यक्ति सत्ता के साथ व्यक्तिगत अवचेतना को भी शुद्ध तथा रूपांतरित करना होता है। कारण, जिन व्यक्तित्वों की नींव पर हमारा वर्तमान व्यक्तित्व रूपी भवन खड़ा है, उनके जन्म-जन्मांतरों के संस्कार यहीं एकत्रित रहते हैं। पूर्ण सत्ता के रूपांतर के लिए उनका उन्मूलन अथवा रूपांतर परम आवश्यक है।

हम कह सकते हैं कि 'दमन के द्वारा प्रकृति को शांत कर, उससे ऊपर उठकर हम आत्मा का साक्षात् कर सकते हैं और फलस्वरूप मुक्त हो सकते हैं। पुर्नजन्म की बात ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में निम्न प्रकृति तथा अवचेतना की शुद्धि का, उनके रूपांतर का – जो कि अपने-आप में एक भागीरथ कार्य है – प्रश्न ही नहीं उठता।'

अगर बात इतनी ही होती, श्रीअरविन्द अवश्य इसी लघु मार्ग से पहुँचना पसंद करते। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और एक लंबा रास्ता अपनाया। इसका कारण यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मानवता के विकास के साथ-साथ दर्शन और मनोविज्ञान भी विकसित होता है। पुराने मार्ग और लक्ष्य हमारे लिए पर्याप्त नहीं होते। प्राचीन आदर्श और सिद्धांत भी जीवन लक्ष्य के रूप में ग्रहण करने के लिए हमें उपयोगी नहीं जंचते।

संभव है काल के एक विशेष प्रवाह में, किसी सभ्यता विशेष के लिए, वह उपयोगी सिद्ध हुआ हो ! यह अनिवार्य नहीं कि हमें भी वह सब युक्तियुक्त प्रतीत हो ! हमारी आत्मा को उसमें संकीर्णता दिखायी दे सकती है। अतः हम अपने सामने और अधिक उच्च, विशाल और दिव्य लक्ष्य रखने के लिए बाध्य होते हैं।

श्रीअरविन्द का योग केवल आत्म-साक्षत्कार तक ही सीमित नहीं है। वे आत्म-विकास तथा आत्म-परिपूर्णता की संभावना को एक असीम रूप में देखते हैं। अवश्य आत्म-साक्षत् उनके योग का पहला चरण है प्रथम आधार है। उसके पश्चात् ही साधक में आवश्यक ज्ञान, दृष्टि, सचेतनता और संकल्पशक्ति विकसित होते हैं जो पूर्णयोग में सफलता पूर्वक प्रवेश करने के लिए, बाह्य यांत्रिक व्यक्तित्व में रूपांतर के प्रति अभीप्सा जगाने के लिए अनिवार्य हैं। उन्होंने स्वयं कहा है– जहाँ दूसरे योगों की समाप्ति होती है, वहाँ से मेरा योग प्रारंभ होता है।

योग-सिद्धि व्यक्ति-चेतना का, उसके संपूर्ण आंतरिक व्यक्तित्व का, अनंत सत्ता में प्रवेश है, उसके साथ तादात्म्य है। इस अनंत सत्ता में अनंत संभावनाएँ हैं। आज जो सिद्धि हमने अपने लक्ष्य के रूप में चुनी है वह है अपने पृथक् व्यक्तित्व को बनाए रखते हुए, सत्ता के सब अंगों में परम एकत्व को धारण करना, उसकी दिव्यता में इनका रूपांतर करना। हम इसे आत्म-परिपूर्णता के पथ पर प्रथम चरण कहते हैं। इस रूपांतरित व्यक्तित्व पर भी आगे साधनाएँ की जा सकती हैं।

इसकी क्षमताएँ सदैव बढ़ायी जा सकती हैं। भले ही आज हम उस सब की कल्पना करने में असमर्थ हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि कल भी नहीं कर सकेंगे। यह सृष्टि प्रभु का आत्म-विस्तार है। प्रभु अनंततया अनंत हैं, अतः उनका यह विस्तार, उनकी यह आत्म-अभिव्यक्ति भी अपनी हर अवस्था में, अपनी उपलब्धियों में अनंत प्रकार से, अनंत होनी चाहिए। स्थूल एवं सूक्ष्म, संपूर्ण सृष्टि अभी तक केवल दो अवस्थाओं में विभाजित है-- यह प्रसंभाव्य है कि कल सृष्टि में कुछ पदार्थ, तत्व, श्रेणियाँ ऐसी भी प्रकट हो जायें, या ऐसा कहें -- वर्तमान पदार्थों में से, स्वाभाविक रूप में, विकसित हो जायें, जो स्थूल एवं सूक्ष्म का सम्मिश्रण हो। स्थूल रहते भी स्थूलता से बंधे न हों, जब चाहें सूक्ष्म रूप धारण कर सकें और सूक्ष्म रहते भी जब चाहें स्थूल रूप में हमारे साथ व्यवहार कर सकें।

हम अपनी अचेतनता के कारण बंधन में हैं। जैसे ही सचेतन होते हैं, जैसे ही अपने-आप को अहंकार से पृथक् कर लेते हैं, हम अपनी सत्ता के सत्य के साथ अर्थात् अपने अंदर आत्मा के साथ एक हो जाते हैं। अपने आप को चिर मुक्त अनुभव करते हैं। इस मुक्ति में प्रायः हमारी अंतर्सत्ता ही मुक्त होती है। इससे अधिक कुछ नहीं। दूसरे सभी भाग यहीं पीछे छूट जाते हैं। इस प्रकार की मुक्ति का अर्थ है आवागमन से मुक्ति। आत्मा की अनंतता में हमारा स्थायी निवास। हम परम शांति तथा आनंद का उपभोग अनंत काल तक कर सकते हैं। मुक्ति के विषय में जो आज तक, परंपरागत चली आ रही धारणा है, वह प्रायः यही है।

सभी आत्माएँ इससे संतुष्ट हों ऐसी बात नहीं है। सृष्टि में हर आत्मा का अपना पृथक् भाव है। जगत और जीवन के प्रति, जगत और जीवन में अपने कर्तव्य के प्रति, स्वतंत्र दृष्टिकोण है। अगर आत्मा अपने भाव में स्वतंत्र न हो तो उसके पृथक् अस्तित्व का कुछ अर्थ नहीं है। सृष्टि में अवतरित आत्मा जानती है कि यह जगत प्रभु का लीला धाम है और वह यहाँ प्रभु की प्रसन्नता के लिए अवतरित हुई है या होती है। वह जानती है कि इस जगत में व्यवहार करने के लिए, अपना कर्तव्य निभाने के लिए, उसे मन, प्राण, शरीर, इंद्रियाँ रूपी यंत्र मिलते हैं। बिना इनकी सहायता के वह जगत में अपने आप को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। अतः इन यंत्रों को वह अपनी सत्ता के अंग के रूप में स्वीकार करती है। इनका विकास करती है, इनकी क्षमताएँ बढ़ाती है। इनके अंदर जो चेतना सुप्त है उसे जगाती है और इन्हें इनके सत्य स्वरूप के प्रति सचेतन बनाती है, उससे तादात्म्य लाभ कराती है। लेकिन हर अंतरात्मा इतने मात्र से ही संतुष्ट हो जाये अथवा उसे संतुष्ट होना ही पड़े ऐसी बात नहीं है। कुछ आत्माएँ चाह सकती हैं, उनमें यह अभीप्सा जाग सकती है कि उसके ये यंत्र भी अपने सत्य-स्वरूप में रूपांतरित हों, आंतरिक दिव्यता में इनका दिव्यीकरण संभव बने। विकास की एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा वह इन्हें अपने जैसा बनाना, अपने गुण, धर्म, स्वभाव में उठाना चाहती है। शायद यह अभीप्सा उसमें है और सदैव थी। लेकिन उसे वह चेतना और शक्ति पृथ्वी पर उपलब्ध नहीं

थी जिसके द्वारा अपने इस स्वप्न को साकार देख सकती, अपनी चिर-पोषित अभिलाषा को फलीभूत हुई देखती।

आज यह संभावना पृथ्वी के वातावरण में है। प्रकृति के रूपांतर के लिए आवश्यक अतिमानसिक चेतना शक्ति और ज्योति उपलब्ध हैं। श्री अरविंद और श्री माताजी की संयुक्त तपस्या के परिणाम स्वरूप अतिमानस का अवतरण पृथ्वी पर संभव हुआ है। जो मनुष्य तथा उसके जीवन को रूपांतरित करने में, उसे दिव्य बनाने में सब प्रकार सक्षम है। अतः मानव आत्मा कुछ भिन्न प्रकार से सोचने लगी है। नये क्षितिजों में नये अभियान करने की, नये आयाम में सचेतन होने की तीव्र उत्कंठा उसके हृदय में हिलोरें ले रही है। वह मन के धुंधले प्रकाश में परम सत्य को टटोलना तजकर, अतिमानस में उड़ान भरने को उद्यत है। अपने यंत्रों को सब सीमाओं से ऊपर उठाकर, प्रकृति की सब शक्तियों से स्वतंत्र रखते हुए, पृथ्वी पर दिव्य जीवन जीना चाहती है।

श्रीअरविन्द पृथ्वी पर दिव्य जीवन की संभावना को स्वीकार करते हैं। हमारी संपूर्ण सत्ता अतिमानसिक ज्योति में रूपांतरित हो सकती है। रूपांतरित व्यक्ति को उन्होंने अतिमानव नाम प्रदान किया है। अतिमानव जाति का पृथ्वी पर आगमन अवश्यंभावी है। यह मनुष्य जाति से उतनी ही श्रेष्ठ होगी जितनी मनुष्य जाति पशु से है। अपने महान ग्रंथ 'दिव्य जीवन' में उन्होंने इसकी सविस्तर चर्चा की है।

चालाकी और सरलता

सरलता आत्मा का गुण है। सरलता आध्यात्मिक है। हमें सीधा सरल शिशुवत रहना चाहिए। सरलता में हम चैत्य पुरुष के प्रभाव में रहते हैं। हमारी सत्ता आंतरिक सत्य के प्रति उद्घाटित रहती है। चालाकी आसुरिक प्रभाव है। चालाक व्यक्ति अपने अंदर बंद रहता है। चालाकी धीरे-धीरे धूर्तता और दम्भ का रूप ले लेती है। हमारा निवास आंतरिक सत्य से दूर मिथ्या में होता है।

चालाकी और बुद्धिमानी दो भिन्न स्तरों की चीजें हैं। बुद्धिमान को चालाक होने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी बुद्धि से अपनी समस्याओं का हल निकाल लेता है। संसार के टेढ़े मार्गों पर उसे भी चलना होता है। लेकिन मार्ग का टेढ़ापन उसकी चेतना में टेढ़ापन नहीं ला सकता। आसुरिक और मिथ्यात्व से प्रभावित व्यक्तियों के साथ उसे व्यवहार और व्यापार करना पड़ता है लेकिन वह अपने श्रेष्ठ आचार से युक्त स्तर पर अडिग रहता है, उनसे प्रभावित नहीं होता।

सरलता हमें अंतर से युक्त रखती है। हम स्वतः सत्य की ओर उद्घाटित रहते हैं, प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। आंतरिक वातावरण के दिव्य गुण सुख-शांति, आनंद, संचेतना ऊपर आते और जीवन पर छाए रहते हैं। चालाकी छल है, कपट है। हम कुछ छिपा रहे होते हैं। यह सब हमारे प्राणिक

अहंकार का क्षेत्र है। सत्ता में महा अंधकार की ग्रंथि है जिसे समाप्त किये बिना, समर्पित किये बिना हम आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकते। हमारे हृदय का आवरण, जो इसी प्रकार की, निम्न प्रकृति की वस्तुओं से बुना होता है नहीं हट सकता। हम जीवन आंगन में कभी आलोक नहीं देखेंगे। भागवत कृपा हमसे दूर रहेगी। आत्म-मंगल का सूर्य हमारे ऊपर, हमारे जीवन में नहीं चमकेगा।

भगवान को चालाकी पसंद नहीं है। सरल, शिशुवत्, निश्छल हृदय में वे स्थायी रूप से अपना आसन ग्रहण करते हैं। उनकी यह दिव्य उपस्थिति केवल साक्षी रूप में ही नहीं रहती। साक्षी रूप में तो वे हर हृदय में विद्यमान हैं ही, एक पिता के रूप में, एक सहायक के रूप में, पथ-प्रदर्शक के रूप में वे हमारे साथ, हमारे पीछे जीवन मार्गों पर आर्शीवाद बरसाते हुए विराजमान रहते हैं। वे सब जिन्हें सुख-शांति, आत्म-उत्थान और सफलता चाहिए उन्हें सरलता के रहस्य को, उसके मूल उद्गम को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

भगवान निराकार हैं। मानव मन, बुद्धि के लिए अचिन्त्य हैं। उनकी समग्रता में प्रवेश करना, उनके परम चैतन्य को धारण करना मनुष्य के लिए तब तक कठिन रहता है, जब तक वह अहंकार का, सीमित व्यक्ति-चेतना का अति क्रमण नहीं करता। हृदयेश्वर की शरण ग्रहण कर अपने विचार, भाव, कर्मों में पूर्णतः समर्पित नहीं हो जाता।

एक अनुभव

मैंने देखा, मैं अति चिंतित था, परेशान था। मुझे ऐसा जीवन पसंद न था जिस पर अपना प्रभुत्व न हो। ऐसा मन पसंद नहीं था जो जब चाहे, जैसे चाहे, मेरी अनुमति के बिना कुछ सोचे। अपने-आपको स्वतंत्र अनुभव करे, जिस विषय पर चाहे जाये। वस्तुओं में अहंकार की ग्रस्तता, उसके चाव, विषयों के प्रति इंद्रियों की अर्थहीन चेष्टाएं इत्यादि, निम्न प्रकृति का खेल देख कर मेरा हृदय विषाद से भरा रहने लगा। सभी कुछ एक निरर्थक-सा, असार-सा सिलसिला देख कर मैं पूर्ण निष्चेष्ट होकर बैठ गया। मन तथा विचारों से दूर, एक प्रकार की निस्तब्धता में डूबता गया। जीवन से मैंने मुँह मोड़ लिया था। 'क्षुद्र, अहंमय सीमित व्यक्ति-चेतना में अब और नहीं लौटना है' मेरा अटल निश्चय था।

इस अंतर्मुखी वृत्ति में कुछ दिन बीते। मैंने खेल-कूद, प्रतियोगिता में भाग लेना आदि सभी छोड़ दिये थे। भोजन की मात्रा दिन-दिन कम होती जा रही थी। अभ्यासवश कहो या स्वभाववश या स्नायु-दुर्बलता के कारण, मैंने अपने आपको अंतर प्रदेश की गहराई में पाया। वहाँ डूबता जा रहा था। बाहर से प्रायः संबंध कट गया था। ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है, पता नहीं कितनी देर के पश्चात्, एक मंद-सी, मधुर-सी अंतर-वाणी ने मुझे सचेत किया। पहले मैं कुछ चौंका। लेकिन शीघ्र ही संभला और एकाग्रचित्त होकर सुनने

लगा। "इस मिथ्या भासित होने वाले बाह्य व्यक्तित्व के पीछे, एक सच्चा दिव्य व्यक्तित्व है। सारहीन-से प्रतीत होने वाले इस जीवन प्रवाह के पीछे एक अन्य जीवन है, जो उच्च है, सत्य है, सनातन है। समस्याओं के पर्वत के पीछे समाधान का सूर्य सदैव विद्यमान रहता है। उदासीनता कभी कोई सार्थक परिणाम उत्पन्न नहीं करती। तपस्या, संघर्ष एवं धैर्य से अप्राप्त की भी प्राप्ति संभव है। अपनी आत्मा का अनुसंधान करो। वही आनंद का सतत प्रवाह है। जीवन में तटस्थ रह कर चलने के लिए घटनाओं में पूरी तरह मत डूबो, उनसे ऊपर रहो। एक भाग अवश्य पृथक् रखो। मन और प्रकृति पर प्रभुत्व संभव है। संकल्प को दृढ़ रखो। आत्म-अग्नि चेतन करो। आत्म-शक्ति को जगाओ। परिस्थिति से पीछे हटना सीखो। सांसारिक विषयों और वस्तुओं के प्रति आकर्षण एक धोखा है। उनमें छिपी दिव्य सत्ता को खोजो, उससे ही व्यवहार करो, वही जीवन को सही मूल्य प्रदान करेगी। स्मरण रखो, मानव आत्मा के पीछे एक आशीर्वाद, एक सहायता सदैव विद्यमान है। जीवन पथ पर मानव मात्र का हाथ एक अदृश्य, दिव्य शक्ति के हाथ में है, जो उसे गंतव्य की ओर प्रेम पूर्वक, शिशु की भांति ले जा रही है।"

"बाह्य जीवन से पीछे हटना, आंतरिक जीवन को सब कुछ समझना, कर्म न करना, ध्यान में ही सारा समय गुजारना श्रीअरविन्द की शिक्षा के विपरीत है।"

— मेरे पत्र के उत्तर में श्रीमाताजी ने कहा।

साधना में कठिनाई

जिन्होंने जीवन का गहराई के साथ अवलोकन किया है, वे सब अपनी सत्ता के सत्य को पाना, उसमें निवास करना, उसी के अनुसार जीवन यापन करना चाहते हैं। वे सभी इस दिशा में बढ़ते हैं। लेकिन जिनके जीवन में यह सत्य पूर्ण रूप से संसिद्ध हुआ है या होता है, ऐसे व्यक्ति विरले ही, बहुत कम, देखने में आते हैं। क्यों हम पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाते हैं? क्या है वह कठिनाई, कहाँ है अड़चन, कहाँ है उसका मूल?

निस्संदेह यह कठिनाई बाहर नहीं हो सकती। वातावरण को दोष देना मानव स्वभाव है। वास्तव में कठिनाई का मूल कारण भीतर है। हमारे अपने अंदर। हमारा व्यक्तित्व बहुत-सी चीजों से निर्मित है। भूतकाल के अनुभवों के एक बहुत बड़े ढेर के ऊपर, नींव की नाईं, उन्हें आधार बनाकर, हमारा वर्तमान व्यक्तित्व-भवन खड़ा है, इसका निर्माण हुआ है। सब तरह के संस्कार वहाँ हैं।

साधक, जो अपनी अभीप्सा के वेग को सदा समान रूप से तीव्र नहीं रख पाता, उसकी चैत्य-अग्नि, जो समय-समय पर बुझी-सी प्रतीत हुआ करती है, उसकी एकाग्रता में जो शिथिलता आ जाती है, स्वचेतना के सर्वोच्च संभव स्तर पर रहने में जो वह कठिनाई अनुभव करता है और सदा स्थायी भाव से नहीं रह पाता, इन सबका एक कारण हमारी प्रकृति में, व्यक्तित्व में, नाना आवेशों का, भावों का यह मिश्रण भी है।

हमारा भविष्य

शीघ्र ही संसार वह दिन देखेगा जब उसे आध्यात्मिक मार्ग में आश्चर्यजनक सहायता प्रदान की जाएगी। मनुष्य भागवत सहायता को अपने समीप अनुभव करेगा, मानो पुकारा और सुनायी हुई। प्रार्थना में आंशिक सच्चाई होने से भी उत्तर मिलेगा। मानो भागवत करुणा हमारे द्वार पर ही आयी खड़ी थी। कठोर तपस्या से भरे दीर्घकाल गुजारने से पहले ही उसके हृदय का आवरण दूर होना संभव होगा। सामान्य प्रयास के द्वारा, थोड़ी सी अभीप्सा के द्वारा, मनुष्य भागवत उपस्थिति की अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे। भगवान का सानिध्य सभी श्रद्धावानों को सुलभ होगा। विरोधी शक्तियाँ समाप्त कर दी जाएंगी, असुर शक्तियाँ परिवर्तित हो जाएंगी। अज्ञान की शक्तियाँ प्रभु को समर्पित होने में आंतरिक संतुष्टि लाभ करेंगी। साधना के पथ में, चरित्र के निर्माण में, आत्म-संयम पालन करने में, विघ्न-बाधाएं नहीं के बराबर रह जाएंगी। स्वाभाविक दुर्बलताएं आंतरिक शक्ति में रूपांतरित हो जाएंगी। मनुष्य की आंतरिक और बाह्य प्रकृति में विरोध नहीं रहेगा, आत्म-सत्य एक साथ दोनों में निर्बाध गति से प्रवाहित हो सकेगा। वैश्विक स्तर पर सामाजिक सामंजस्य विकसित होगा। प्रतिरोध का भाव नहीं रहेगा। मानव हृदय से दुर्भावना नष्ट हो जाएगी। गुह्य शक्तियों तथा प्रक्रियाओं का ज्ञान द्वार-द्वार उपलब्ध हो सकेगा। मनुष्य आत्मा में जागेंगे, आत्म-विधान के द्वारा जीवन यापन करेंगे।

स्वर्णिम युग, जिसे हम अतिमानसिक युग कहेंगे पालने में से झांकता दिख रहा है। उसकी हिरण्यमयी आँखों में भरे आत्म-विश्वास के सम्मुख किसी प्रकार के संदेह का उठना संभव नहीं। उससे पहले एक संक्रमण काल आ सकता है और जो अपने आपको आत्म-सत्य के अधिक निकट समझते हैं, उनकी सच्चाई को परीक्षा की कसौटी में से गुज़रना पड़ सकता है।

चालाक व्यक्ति आत्मा से दूर रहता है।

हम जितने अधिक चालाक बनते हैं, आत्मा से उतने ही अधिक दूर होते हैं।

हमारे छल-कपट, चालाकी, दुष्टता हमारी आत्मा पर पर्दा बनते हैं। हम आत्म-प्रकाश से वंचित हो जाते हैं। जीवन मार्गों पर भटकन के सिवाय हमारे हाथ कुछ नहीं लगता।

सच्चा पथ-प्रदर्शक भीतर है। शुद्ध, शांत, सच्चे तथा संयमी व्यक्ति को उसका पथ-प्रदर्शन, उसकी सहायता स्वतः सुलभ होती है।

खिड़की खोलते ही पवन तथा प्रकाश का प्रवाह स्वतः भीतर आता है। पर्दा हटते ही अंतर्ज्योति से हमारी सत्ता, हमारे जीवन मार्ग आलोकित हो उठते हैं।

विचार – १

लताओं में सबसे ऊँची वह उठती है, जो सबसे ऊँचे वृक्ष को आधार बनाती, उसका आश्रय ग्रहण करती है। उस पर चढ़ने का प्रयास करती है। उस व्यक्ति का ज्ञान उच्चतम होता है, जो चेतना के सर्वोच्च शिखर पर निवास करता है। उस साधक की उपलब्धि सबसे ऊँची होती है जो सर्वोच्च सत्ता को लक्ष्य-रूप में चुनता है। वही सत्य चेतना का सीधा यंत्र होता है जो सांप्रदायिकता से ऊपर होता है। सारी वसुधा को एक परिवार मानकर चलता है। वही मुक्त चेतना में निवास के योग्य होता है जो पहले अपने अहं से मुक्त हो जाता है। संसार में भागवत कर्मी वही है जो प्रभु को पूर्ण समर्पित है। मनुष्यों में वही बुद्धिमान है जो शरीर को पृथक् समझता और अपने आपको आत्म-रूप में देखता है। नई खोज वह करता है जो प्राचीन उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं है। मानव जाति को पथ वही दर्शायेगा जिसके हृदय में आध्यात्मिकता के नये स्वरूप को स्थान प्रदान करने की अभीप्सा जगेगी, प्रचलित आध्यात्मिकता को नया स्वरूप देने की प्रेरणा उठेगी। सिद्धियों में सबसे महान वही है, जो मानव-सत्ता के सभी अंगों को अध्यात्म-सत्ता की सर्वोच्च ज्योति में रूपांतरित कर दे। उच्चतम से निम्नतम को युक्त करना, उच्चतम में निम्नतम को रूपांतरित करना, सृष्टि का लक्ष्य है, धरती के जीवन की नियति है।

विचार – २

जड़, जड़ नहीं है, चेतन का ही रूप है। जड़, जड़ नहीं, चेतना ही है। मानसिक दृष्टि जड़ देखती है। वास्तव में कहीं जड़ का अस्तित्व नहीं है। सबका आदि मूल, एक दिव्य परम अस्तित्व है। उसमें चेतना के बहुत से स्तर हैं। स्तर-भेद के कारण दृष्टि-भेद है। यह हमारी खंडात्मक दृष्टि है, जो जड़ देखती, वस्तुओं को पृथक-पृथक देखती है। समग्र अध्यात्म-सत्ता अपनी समग्र दृष्टि में केवल अपने आपको देखती है। उसी का अस्तित्व है। स्तरों के कारण भेदात्मक दृष्टि पर हमें नहीं रुकना चाहिए। हर स्तर का सत्य पृथक है। उस स्तर पर वह सत्य है, सत्य हो सकता है, लेकिन वह आंशिक सत्य होता है, पूर्ण नहीं, समग्र नहीं। जगत को देखने की हमारी दृष्टि भी सत्य है, लेकिन यह आंशिक सत्य है, सतही सत्य है। यह वह सत्य है जो हमें हमारी सीमित दृष्टि के द्वारा दिखाया जा रहा है। इसे शास्त्रों में मानसिक अथवा भौतिक दृष्टि कहा है। यह वह सत्य नहीं है जो वस्तुओं का वास्तविक सत्य है। हम चाहें तो आंशिक सत्य पर ठहर सकते हैं। उससे ही संतुष्ट हो सकते हैं। हम चाहें तो पूर्ण सत्य पर भी पहुँच सकते हैं। यथार्थ दृष्टि प्राप्त कर वस्तुओं का यथार्थ सत्य, उनका यथार्थ स्वरूप देख सकते हैं। श्रीअरविंद के कथनानुसार अतिमानसिक स्तर को उपलब्ध कर जो दृष्टि हमें प्राप्त होती है, वह मूल तत्व और उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् यह जगत, दोनों के समग्र सत्य का दर्शन कराने में समर्थ है।

आकाशवत्

(निम्नलिखित घटना १९६४ की है। उन दिनों मैं एक सप्ताह के लिए अस्पताल में था।)

हमारी व्यक्तिगत सत्ता और जगत सत्ता का आदि मूल परमात्मा है। जिसे शास्त्रों में अनादि, अनंत और सर्वव्यापक कहा है। इस आत्म-तत्व की उपमा शास्त्रों में सदैव आकाश से दी गई है। लेकिन हम केवल पुनरावृत्ति नहीं कर रहे हैं। हम इसमें अपनी अनुभूति जोड़कर इसे नवीन रूप में प्रस्तुत करेंगे, जिसमें आकाश का और इस आत्म-तत्व का भी एक नया रूप हमारे सम्मुख प्रकट होगा। उस स्तर पर उठकर, इस अनुभूति को उपलब्ध कर हम हर्षायेंगे, उल्लासित हो उठेंगे।

मैं हृदय में तेरे स्वरूप की कल्पना कर मानसिक रूप से तुझे पूज रहा था, तू मुझ पर प्रसन्न हुआ। एक आनंद की लहर अंतःकरण में छा गई। तू एक सितारे की भांति चमक उठा और मुझे अपने पीछे-पीछे आने का संकेत किया। सिंधु किनारे हम पहुँचे। तू रुका। तेरा स्वरूप प्रकाशमान सत्ता के रूप में मानव आकृति लिए हुए था। दूर क्षितिज की ओर तूने अपनी अंगुलि से इशारा किया और मुझे कहा, "देखो यही मैं वहाँ विद्यमान हूँ। वह मैं हूँ जिसका पूजन करने की अभिलाषा तुम वर्षों से अपने मन-हृदय में पाल रहे हो।" मैंने देखा, समस्त पूर्व दिशा पर छाया, उसे घेर कर, एक ज्योतिर्मय पुरुष विराजमान है। वह ज्योतिर्मंडल के मध्य में स्थित था। "और देखो" उसके इस

कथन के साथ ही भृकुटि में कुछ घूम गया। अब आकाश आकाश नहीं था। सर्वत्र उस पुरुष की उपस्थिति थी। वह भरा हुआ था, व्याप्त था।

धीरे-धीरे यह अनुभूति मेरे स्वभाव की वस्तु बनी। मैं इसकी ठोस रूप में धारणा करने में समर्थ हुआ। इसमें वर्षों लगे। निस्संदेह वह पुरुष निराकार है। लेकिन वह अपनी निराकारता से बंधा नहीं है। आवश्यकता समझी जाती है तो वह साकार रूप भी, अपने स्वरूप की सीमित रेखा-सी भी धारण कर लेता है। फिर यह पुरुष रूप से भी बंधा नहीं है। मैंने इसे शक्ति रूप में, भगवती माता के रूप में भी कृपा बरसाते देखा है।

आकाश मात्र आकाश नहीं है। वह कोई जड़ तत्व नहीं है। कारण यहाँ सृष्टि में कुछ भी मूल रूप में, अपनी मौलिकता में जड़ नहीं है। जड़ मात्र हमारी प्रतीति है। हमारे मन-नयनों के देखने का अभ्यास है। हर स्थान में, कण-कण में वह चेतन पुरुष व्याप्त है। उसकी शक्ति, क्षमता असीम है। हमारी ऊँची से ऊँची धारणा के परे रहती है। निराकार, जहाँ वह उचित समझे, साकार हो सकता है। शास्त्र उसे सर्व-समर्थ कहते हैं, जिसमें सब प्रकार की सब संभावनाएं सब कालों में निहित हैं। वह सर्व-बंधनमुक्त है अर्थात् सब बंधनों से परे है। उसे कुछ भी नहीं बांध सकता। निराकारता भी नहीं बांध सकती। भगवान अनंत प्रकार से अनंत है। यह श्रीअरविन्द ने हमें बताया है। अगर हम इस शब्द की गहराई में जायें और निष्पक्ष भाव से

इसका विश्लेषण करें, इस पर विवेचना करें तो दर्शन संबंधी हमारी बहुत सी समस्याएं, जो कि हमारे मन-बुद्धि की उपज हैं, हल हो सकती हैं और हम एक सार्वभौम, पूर्ण समन्वयात्मक दर्शन को जन्म दे सकते हैं। आखिर मत चाहे कितने भी हैं, दर्शन चाहे असंख्य हों, मूल तो सबका एक ही ज्ञान सिंधु है। वह आत्मा ही है। 'एकम् ज्ञानमूर्तिम्।'

जब हमारा मन मनोरथों से रिक्त है, हृदय वासनाहीन, इंद्रियों में कोई मांग नहीं। सत्ता शांत, शुचि मंदिर का रूप ग्रहण करती है, हम उच्च्च चेतनाओं की ओर उद्घाटित होते हैं। उन्हें ग्रहण करने की सामर्थ्य हमें प्रदान की जाती है।

जिनके मन में, हृदय में कामनाएँ, तृष्णाएँ, मनोरथ, आशाएँ भरी हैं वे ग्रहणशील नहीं हैं। वे जो भी स्वाध्याय करते हैं, जो भी सत्संग में सुनते हैं वह उनके अन्तःकरण तक नहीं पहुँचता, उनके हृदय में प्रवेश नहीं पाता। भरे हुए घट में और पानी नहीं समाता।

जो शरीर से अपने आपको पृथक् कर लेते हैं और आत्मा में स्थित हो जाते है, उनके लिए न अंधकार रहता है न रात्रि। न अचेतनता न उसका परिणाम दुख। आत्मा में अंतिम सुख है। प्रकाश में चिर प्रसन्नता।

जीवन – एक कला

चेतना के सामान्य स्तर पर निवास करना, अपने आपको शरीर मानना, मन तथा इंद्रियों की इच्छाओं को अपनी समझना, लोभ-मोह के ताने-बाने बुनते रहना, इस सबका अर्थ है जगत-प्रवाह जो चला जा रहा है, उसी की एक इकाई बने रहना। लक्ष्यहीन जीवन में उम्र गुजार देना। प्रकृति के नियमों से बंधे हुए, अपने वर्तमान क्षुद्र व्यक्तित्व की सीमाओं में बंद, उसकी घुटन सहते हुए, भव-उपवन के मीठे-कड़ुवे फल खाते हुए, जिन्दगी के दिन पूरे करना। निस्संदेह इसे मनुष्य का जीवन नहीं कहा जा सकता। यह मानव-चेतना का स्तर नहीं है। मनुष्य के जीवन का एक विशेष प्रयोजन है। धरती पर मानव आत्मा का अवतरित होना एक महान घटना है और उससे जिस फल की प्राप्ति होती है वह भी कोई असाधारण वस्तु अथवा स्थिति होनी चाहिए।

अगर हम जीवन जीने की कला को ठीक-ठीक समझ लें, अगर उसके पीछे छिपे दिव्य अर्थ में आस्था उत्पन्न हो जाये, तो हमें जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने में सहायता मिलेगी। हमारी भटकन कम हो जाएगी। दिव्य सूर्य के आलोक से आलोकित पथ अपने सामने प्रशस्त देखकर एक गहन निश्चिंतता का अनुभव हम अपने हृदय में करेंगे।

सृष्टिकर्ता परमात्मा, जो कि हमारे जीवन का स्वामी है, उसकी प्राप्ति को हमने मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में चुना

है और हम सब इस तथ्य के साथ सहमत हैं कि हमारा चुनाव शास्त्र-कथन के अनुरूप है और वह होना भी चाहिये। परमात्मा की प्राप्ति में दूसरे वे सब लक्ष्य भी स्वयं आ जाते हैं जिन्हें शास्त्रों में अन्य नामों से उच्चारित किया है, लेकिन जो सार रूप में एक हैं। जैसे ईश्वर-प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-दर्शन, चरम सत्य की उपलब्धि, अपने स्वरूप का बोध, आदि।

परमात्मा की प्राप्ति के बहुत से साधन शास्त्रों में बताये गये हैं। कैसे भी हमें आत्म-अज्ञान से बाहर आना है और आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित होना है। जिसका अर्थ है वर्तमान अहंमयी चेतना से ऊपर उठना, अपनी सत्ता के सत्य को पाना, उसमें निवास करना, उसी के स्वभाव के अनुसार जीवन यापन करना। कर्मों में उसे चरितार्थ करना।

शास्त्रो का कथन है – हम अपने पुरुषार्थ से आत्मा को पा सकते हैं। आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं। क्योंकि अपने सत्य स्वरूप में हम वही हैं। आत्मा को पाने का अर्थ है अपने मूल को, उद्गम को पाना और वह हर जीव का जन्म-सिद्ध अधिकार है। हम अपने मन को शांत, शुद्ध, नीरव करते हैं, उससे परे, उसके पीछे चले जाते हैं और एक गहन एकाग्रता के द्वारा, तादात्म्य की तीव्र अभीप्सा के द्वारा आत्मा से अर्थात् अपनी मूल सत्ता से एकत्व लाभ करते हैं। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है भगवान की अर्थात् परम पुरुष की उस अवस्था विशेष से तादात्म्य जो उनकी

आत्म-अभिव्यक्ति में जीव और जगत को धारण करती है। इनका मूल है।

लेकिन जहाँ भगवान को पाने का अर्थात् उस परम अस्तित्व को, जिसे "सर्वम्" तथा "पूर्ण" कहा जाता है-- उसके पाने का प्रश्न उपस्थित होता है, हमें उसकी कृपा पर निर्भर करना पड़ता है, उसकी कृपा का होना, उसका बने रहना, अनिवार्य है। कारण, भगवान की बहुत सी अवस्थाएं हैं। उस अनंत में बहुत से अनंत हैं। उसे एक ऐसे सिंधु के रूप में देखा गया है, जिसमें असंख्य सिंधु समाये हैं और हम अपनी व्यक्तिगत चेतना के सहारे, उसके आधार पर एक बार में एक ही अवस्था में प्रवेश कर सकते हैं, किसी एक के साथ ही तदाकार हो सकते हैं। शास्त्रों में उस परम तत्व को, परम अस्तित्व को अनंत ज्योति, ज्ञान, शक्ति के तथा सत्ता, प्रेम, शक्ति और आनंद आदि दिव्य स्वरूपों के असंख्य सिंधुओं के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ भगवान शब्द का प्रयोग हम एक सीमाहीन अनंत अस्तित्व के रूप में कर रहे हैं। जो परम पुरुष भी है और परम सत्ता भी। सर्वव्यापक, अनादि तत्व भी है और सर्वज्ञ चेतना भी। भगवान अर्थात् जो जीव, जगत तथा ईश्वर, आत्मा, परमात्मा तथा परम तत्व आदि सब है। भगवान अर्थात् वह चेतना शक्ति जो सर्वम् है, सब कुछ है और जिसके अनंत आत्म-विस्तार में चेतनाओं के अनंत स्तर हैं। भगवान अर्थात् वह अनादि तत्व, वह अनंत अस्तित्व जिसे पूर्णतः किसी प्रकार भी वर्णित नहीं किया जा सकता, जो अनंततया

अनंत है। यहाँ अथवा इसके परे जो कुछ भी है, जो सब हम जानते हैं या अभी नहीं जानते, देखते हैं अथवा नहीं देख पाते, वह सब इसी "एकमेवाद्वितीयम्" परम अस्तित्व का आत्म-विस्तार है। भगवान एक ऐसे सर्वम् हैं जो अपनी असंख्य अवस्थाओं में अभिव्यक्त हैं। यही वे अमृत के सिंधु हैं जिनमें असंख्य सिंधु लहराते हैं। उनकी समग्रता में प्रवेश पाने के लिए आध्यात्मिक मानस-स्तरों की विशालता अथवा उच्चता पर्याप्त नहीं है। मन के लिए वह परम अस्तित्व अगम्य है, विचार के लिए अचिंत्य है। जब तक हमारा मन सीमित रहता है, वह परम अस्तित्व हमारे लिए अगम्य ही रहता है। श्रीअरविन्द कहते हैं, भगवान को उनकी समग्रता में जानने के लिए, उनके साथ अस्तित्व के सब स्तरों पर तादात्म्य लाभ करने के लिए, हमें अतिमानसिक चेतना स्तर पर उठना होता है। अतिमानस में वह क्षमता है जिसके द्वारा हम परम अस्तित्व को उसकी समग्रता में अनुभव कर सकते हैं। अतिमानस आध्यात्मिक मानस स्तरों से परे सच्चिदानंद प्रभु की अपनी चेतना है, जिसे उन्होंने भागवत या सत्य चेतना कहा है।

जिस नये व्यक्तित्व की बात हम कह रहे हैं, वह एक अहंशून्य, रूपांतरित और दिव्य व्यक्तित्व होगा। यह नहीं जो आज हम हैं और जैसे हैं – एक अहमात्मक चेतना से बद्ध व्यक्तित्व – उसका स्वरूप दूसरा होगा। वह अपने अंदर भागवत चेतना और संकल्प को धारण करेगा। पृथ्वी पर उसकी अभिव्यक्ति का केंद्र होगा।

शास्त्र चर्चा

इस विश्व में एक अनंत सत्ता कार्य कर रही है जो इन असंख्य दृश्यमान वस्तुओं में आत्मा के रूप में विराजमान है। प्रकृति के विविध रूप, उनके कार्य, इसी से उत्पन्न होते हैं, इसी से चालित हैं। वही हम सब के हृदय में, चेतना, शक्ति और शांति के रूप में स्थित है। परन्तु हम इसके प्रति सचेतन नहीं हैं। हम इसे न देख सकते हैं, न अनुभव कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण है कि हमारा निवास अज्ञान में है, हम बाह्य प्रकृति में निमग्न हैं। प्रकृति, शास्त्रों के अनुसार विश्व सत्ता की निम्न अवस्था है, जिसे अविद्या या माया कहा जाता है। इसी माया का पर्दा हमारे नेत्रों से आत्मा को ढके रखता है। अगर ऐसा कहें तो अधिक सीधा रहेगा कि इसी माया के द्वारा जो कि भगवान की अपनी योगमाया है भगवान हमसे छिपे रहते हैं। अगर हम भगवान को पाना चाहते हैं तो हमें इस विश्व-प्रपंच के, इन प्रकट रूपों के पीछे जाना सीखना होगा। इन रूपों के भीतर विद्यमान सत्य पर पहुँचना होगा और वहाँ पहुँचने का अर्थात् इस आत्म-अनुसंधान का मार्ग है अंतर्मुख होना। इसका व्यवहारिक रूप होगा कर्मों को यज्ञ रूप में करना, प्रभु को समर्पित जीवन जीना, सब ओर उसे ही अनुभव करना। जब किसी वस्तु या मनुष्य से व्यवहार करें तो हमारा भाव ऐसा हो मानो हम उन्हीं परमेश्वर के साथ व्यवहार कर रहे हैं।

अनुभूति

मैंने अपनी आत्मा की वाणी को सुना है। प्रेरणाएँ प्राप्त की हैं। उसके प्रकाश में, प्रभाव में घड़ियाँ गुजारी हैं। उसके पथ-प्रदर्शन में अपने मार्ग बदले हैं। अनुभूति सत्य होते हुए भी उसके स्वरूप भिन्न देखे हैं। मेरे अंदर प्रश्न उठा – मौलिक सत्य एक होते हुए भी उसके रूपों में भिन्नता क्यों? वस्तु स्थिति में इतना अन्तर क्यों ? दर्शन की इस विविधता का रहस्य कहाँ है? मैं चिंतन में डूबा था। आँखें खुली थीं। मुझे लगा मानों कोई कुछ इंगित कर रहा है। मैं उठा और अलमारी के पास गया। 'दिव्य जीवन' नामक पुस्तक निकाली जो पृष्ठ खुला वह पढ़ा। अपने लिए उसका भाव अंकित कर रख दिया। आज यह उसी का संशोधित रूप है। मूल सत्य एक होते हुए भी अभिव्यक्ति के स्तर भिन्न हो सकते हैं जो कि व्यक्ति की अपनी चेतना पर निर्भर करते हैं। सृष्टि में वस्तु का मूल्य उसकी अभिव्यक्ति की पूर्णता पर निर्भर करता है। अर्थात् वह कितनी सीधी, शुद्ध तथा अमिश्रित है। विश्व सत्ता में चेतना के विभिन्न स्तर हैं। हमारी चेतना जितनी शुद्ध, जितनी ऊँची, जितनी विशाल होगी उतनी ही ऊँची चेतनाओं का अवतरण उसमें संभव होगा, उतना ही उन्हें बिना किसी मिश्रण के अभिव्यक्त कर सकेगी।

चेतना के ये स्तर जिन्हें श्रीअरविन्द ने आध्यात्मिक मानस-स्तर कहा है, इस प्रकार हैं ; सबसे नीचे हमारे मन से

ऊपर उच्चतर मन है। उससे परे ज्योतिर्मय मन तथा प्रेरणात्मक मन हैं और सबसे ऊपर अतिमानस से नीचे अधिमानस है। अधिमानस वह स्तर है जिसके ऊपर अनन्त शाश्वत सत्ता अपने मूलं एकत्व में है। अधिमानस से विभाजन शुरू होता है। उससे नीचे सब विभाजित है। एक ही सत्य अपनी अनेक धाराओं में अवतरित होते देखा जाता है। यहीं से दृष्टि-भेद जन्मता है। भिन्न-भिन्न दर्शन तथा दृष्टिकोण उत्पन्न होते हैं। हर द्रष्टा जिस किसी एक धारा को देखता अथवा अनुभव करता है, उसे ही चरम सत्य समझ लेता है। श्रीअरविन्द के अनुसार अतिमानसिक चेतना-स्तर पर स्थित होकर देखने से ये सब धाराएँ सत्य के पक्षों की यह विविधता, स्पष्ट गोचर होती है। हम नीचे की ओर विविधता तथा ऊपर परम एकत्व दोनों को एक साथ अनुभव करते हैं।

हमारी कामनाओं का स्वरूप हमारे विगत जन्मों के संस्कारों और वृत्तियों पर निर्भर करता है। इनका स्तर उच्च भी है और निम्न भी। उच्च कामनाएँ जीवन के स्तरको ऊँचा उठाती हैं, निम्न कामनाओं में हम अंधकार में पतित होते हैं, आत्म-विस्मृति में डूबे, अज्ञान से तिरोहित मार्गों पर चलते हैं। आत्म-विकास के लिए वहाँ कोई संभावना नहीं होती।

धार्मिकता — एक परिधि

हमने कहा है कि सीमा बंधन है, विशालता में ही सच्चा सुख है। हमारे व्यक्तित्व के कई स्तर हैं। एक अन्य स्तर पर हम व्यक्ति ही नहीं, समूह भी हैं, समाज भी हैं। हर व्यक्ति मानवता का अंश ही नहीं, वह पूर्ण मानवता भी है। सारी मानव-जाति को अपने अंदर, अपनी चेतना में धारण करता है। हर स्तर की अपनी सीमा है। अपनी संकीर्णता है। व्यक्तिगत विचारों की, भावों की, आस्था की संकीर्णता के समान हमारी सामूहिक, जातीय तथा धार्मिक संकीर्णता की भी परिधि होती है। और जैसे हमें व्यक्तिगत स्तर पर सब संकीर्णताओं से ऊपर उठना होता है, उसी प्रकार जातीय तथा धार्मिक सीमाओं से भी बाहर आना होता है। तभी हम आत्मा की मुक्त चेतना में उठ सकेंगे, हमारा प्रवेश संभव होगा।

किसी व्यक्ति की महानता इसी में है कि वह कितना अपनी व्यक्ति-वेतना की परिधि से बाहर आ चुका है, कितना अहंकार से, स्वार्थ भावना से, प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से ऊपर उठ चुका है। कितना वह दूसरों के लिए, मानवता के लिए, मानव में भगवान के लिए रहने का अभ्यासी बन चुका है।

जो व्यक्ति दूसरों के सुख में अपना सुख अनुभव करता है, मानव मात्र को — चाहे वह किसी धर्म, जाति तथा संप्रदाय का हो— प्रेम करता है, विश्व-मंगल हित सर्वस्व की भेंट चढ़ाने को

उद्यत रहता है, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है। जो धर्म जितना आत्मा की अभिव्यक्ति के समीप होगा, आत्मा की पवित्रता, विशालता, दयालुता तथा प्रेम से ओत-प्रोत होगा, जो बिना ऊँच-नीच के सबको आलिंगन करने का पाठ पढ़ाता है, परस्पर मिलकर चलने की, मिलकर रहने की शिक्षा प्रदान करता है, सबमें एक आत्मा को देखता है, सबको एक ईश्वर का स्वरूप समझता है, जिसमें कोई व्यक्ति मौलिक रूप से दुष्ट नहीं, आसुरिक वृत्ति का नहीं, पिशाच या शैतान नहीं, वरन् सभी एक परम पिता की संतान हैं, सभी उसकी दिव्य गोद के समान अधिकारी हैं, इस सिद्धान्त को मानकर चलता है। उनकी शिक्षा आकाश में गूँजती हुई सबको संबोधित कर कह रही हैं कि इस आसमान के नीचे हर मनुष्य ईश्वर की संतान है। अतः तेरा भाई है। भाई की तरह उससे प्रेम कर, व्यवहार कर। भूमि सबकी माता है। सब पृथ्वी की संतान हैं। हमें जीवन-मार्गों पर सचेतन होकर उचित-अनुचित का ध्यान रखते हुए, यह समझते हुए अग्रसर होना है कि आत्म-भाव ही समुचित भाव है अर्थात् सहनाववतु, सहनौभुनक्तु........

अगर संसार में एक ही धर्म होता, एक ही स्वभाव के मनुष्य होते, तो मानव-चेतना उतनी द्रुत गति से विकास न कर पाती, जितना द्रुत हुआ है।

प्रतिरोध या संघर्ष विकास को, प्रगति को तीव्रता प्रदान करता है। लीला में बहुविध रस उत्पन्न करने के लिए प्रभु ने दैवी शक्तियों के साथ-साथ आसुरिक भी उत्पन्न की हैं।

अतिमानसिक युग

पृथ्वी पर अतिमानस का प्रभाव दिन-दिन बढ़ रहा है। जिसके कारण सृष्टि-विधान में एक महान परिवर्तन आयेगा। प्रकृति का पूर्ण सहयोग मनुष्य को प्राप्त होगा। मनुष्य भी सचेतन होगा और भूकम्प तथा बाढ़ आदि के द्वारा प्रकृति जो उसे सिखाना चाहती है, जिस ओर उसका इंगित होता है, मनुष्य उसे पहले से ही सीख चुका होगा। अतः इनकी आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। ये नहीं दुहराये जायेंगे। संसार का वातावरण सामंजस्यपूर्ण होगा।

आगामी अतिमानसिक युग में, जिसे कि हम स्वर्णिम युग कहते हैं, भूकम्प अथवा बाढ़ जैसी चीजें, जो कि प्रकृति के आक्रमण होते हैं घटित नहीं होंगे। मनुष्य स्वाभाविक रूप में सचेतन हो जायेंगे। प्राकृतिक शक्तियों के साथ उनकी समस्वरता बढ़ती जायेगी। एक विश्वव्यापी सामंजस धरती के हर कोने पर शासन करेगा। जो शक्तियाँ इनके पीछे होती हैं, इस प्रकार की भयंकर क्षतिपूर्ण घटनाएँ जिनके संकल्प की चरितार्थता होती है, वास्तव में ये उच्च, दिव्य शक्तियाँ नहीं होतीं। इनकी दृष्टि, इनकी शक्ति सीमित होती है। अपने क्षेत्र में ये स्वतंत्र होती हैं। कम से कम अपने आपको स्वतंत्र समझती हैं। भले ही यह इनका अज्ञान है, अंधता है। ये स्वयं निर्णय लेती हैं। किसी कार्य को करने का ढंग इनका अपना होता है। अतिमानस के प्रभाव से इनकी चेतना में विशालता आयेगी।

इनके भावों में उदारता आयेगी और मनुष्य को कुछ नया सिखाने के लिए, उनकी चेतना में उत्थान लाने के लिए पुराने तरीकों का प्रयोग नहीं करेंगी। इन्हें भी सब कुछ भगवान पर छोड़ना, उसी की इच्छा के अनुसार कार्य करना सीखना होगा। सृष्टि में, इसके पीछे जो भागवत संकल्प कार्यरत है, उसे समर्पित रहते हुए कार्य करना इनका स्वभाव होगा।

हमने जो ऊपर कहा, अत्यधिक बहिर्मुखी बुद्धि को परियों की कहानी-सा प्रतीत हो सकता है। किन्तु जिन्हें गुह्य दृष्टि प्राप्त है, जो गुह्य लोकों की सत्ताओं की क्रिया-प्रणाली का ज्ञान रखते हैं, वे इस मन्तव्य के साथ सहमत होंगे।

व्यक्ति-चेतना के पूर्ण विकास का अर्थ है परम भागवत चैतन्य के साथ सब स्तरों पर तादात्म्य लाभ करना। सृष्टि में उसी दृष्टि से सम्पन्न होकर देखना, व्यवहार करना। परम पुरुष जैसे जगत को अपने अंदर धारण करते हैं, सब कुछ अपनी अभिव्यक्ति, अपना स्वरूप देखते हैं, अपने साथ ही सब व्यवहार करते हैं। उस चेतना-स्तर पर निवास करना मनुष्य के लिए तभी संभव है जब उसे प्रथम अतिमानसिक चेतना प्राप्त हो। उसमें उसका आरोहण संभव हो।

तत्पश्चात्

दूसरों के दोष देखने जाएंगे तो लक्ष्य से भटक जाएंगे। दूर करने जाएंगे तो संतुलन खो बैठेंगे। हमारा निवास अहंकार में हो जायेगा। उसके द्वारा ग्रसित हो जायेंगे। अगर हम अपने अंदर से दोषों को दूर कर सकें, तो विश्व-प्रकृति में यह संभावना उत्पन्न हो जाती है कि कोई भी उन पर विजय पा सके, अपने स्वभाव में से दूर कर सके।

अगर हम व्यक्ति-चेतना का अतिक्रम कर चुके, मन के परे आत्म-चेतना में हमारा निवास स्थायी हो चुका, सत्ता में सब कुछ, छोटी से छोटी क्रिया भी भागवत इंगित पर, उनके आदेश पर निर्भर करती है तो हम कोई भी कार्य, चाहे वह कितना भी कठिन हो अपने हाथों में ले सकते हैं। उस समय हम लेते नहीं, हमें प्रदान किया जाता है। भागवत-आदेश-पालन हमारे जीवन का, कर्मों का स्वरूप होने के उपरान्त हम कर्त्तृत्व के अभिमान से ऊपर उठ जाते हैं। कर्म बंधन-कारण नहीं रहते। अंतस्थ पुरुष की मुक्त चेतना हमारा स्वभाव हो जाता है। मन, विचार तथा कर्म में उसका प्रवाह हमारा जीवन। "एषा ब्राह्मी स्थिति...."

अगर हमारे पुरुषार्थ की दिशा सही है, कर्म में भाव सही है, आत्मिक है तो कोई कारण नहीं कि हम स्थायी सुख से दूर रहें।

तीन चीजें

तीन चीजें हमें समझनी हैं। उसके पश्चात् ही वह संभावना उत्पन्न होगी जिसके द्वारा हम संसार की एक सुंदर व्यवस्था कर सकेंगे। यहाँ जीवन में उत्थान लाने में, आत्मा का सत्य इसमें प्रवाहित करने में समर्थ हो सकेंगे। प्रथम, हमें सृष्टि के विधान को समझना है, अर्थात् भागवत संकल्प जो इसमें क्रियारत है, उसका ज्ञान प्राप्त करना है। जिससे कि हम अपने जीवन को उसके अनुरूप बना सकें। दूसरी, जो नयी चेतना पृथ्वी पर अवतरित हुई है, जिसे हमने अतिमानसिक चेतना कहा है, उसके प्रति सचेतन होना है। इसमें हमारी आस्था होनी चाहिये। इसकी शर्तें पूरी करनी हैं और इसके प्रति समर्पित रहना है जिससे कि यह हमारे अंदर अवतरित हो, हमारी सत्ता को अपने हाथ में ले और हमारा जीवन अतिमानसिक चेतना की अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करे। तीसरी, हमें अपने चैत्य-पुरुष को पाना है, उसकी प्रकृति में अपनी प्रकृति को उठाना है। उसके गुणों को, चेतना को अपने स्वभाव में यंत्रों में धारण करना है। उनके द्वारा अपने आपको परिवर्तित करना है।

तभी मानव-जीवन अपने मूल के साथ संयुक्त होगा। उसका सत्य इसमें अभिव्यक्त होगा। यहाँ सब सुखद, आनंदमय, सत्यमय, प्रेममय होगा। सृष्टि प्रभु की प्रति-मूर्ति होगी। इसके कण-कण में आत्मा प्रतिबिम्बित होगी। यहाँ सब आत्मा का सीधा प्राकट्य होगा।

चिंतन की देन

हमारे भीतर भी आकाश है। उस आकाश के परे भी आकाशों का क्रम है। जैसे-जैसे हम गहराई में उतरते हैं, ज्योति का तेज तीव्रतर पाते हैं। इन स्तरों पर पूर्ण नीरवता है। किन्तु शब्द आते हैं। वाणियाँ सुनने को मिलती हैं। शब्दों का पथ-प्रदर्शन निर्भ्रांत होता है। वाणियों का ज्ञान आत्मा की विशालता के समान व्यापक होता है। सत्ताएँ मिलती हैं। दर्शन होते हैं। बोलती भी हैं। क्षताएँ प्रदान की जाती हैं। यह आंतरिक जगत है। प्रथम दृष्टि में हम केवल आकाश ही देख पाते हैं। धीरे-धीरे वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं। मानों, उनके ऊपर एक आवरण था जो हटा लिया गया है। ऊर्ध्वारोहण की यात्रा में जीव इन सब के द्वारा अपने अनुभवों का भंडार भरता है। अंत में हम इन सब के परे सद्वस्तु उपलब्ध करते हैं। सद्वस्तु जो शाश्वत है, सनातन है, अव्यय है।

हम अपने आपको बाह्य सत्ता से, मन, प्राण, शरीर रूपी यांत्रिक व्यक्तित्व से पृथक् देखते हैं और अमर, अजन्मा, अविनाशी अनुभव करते हैं। शोक, मोह और भय हमें स्पर्श नहीं कर पाते। हम इनसे ऊपर होते हैं। अपनी शुद्ध सत्ता में ये सब प्राकृतिक वस्तुएँ हमारे लिए विजातीय होती हैं।

जिस दिन मनुष्य इतनी-सी बात समझ जायेगा, उसका संसार सोने का हो जायेगा।

नई चेतना की मांग

नई चेतना, अतिमानसिक चेतना जो मानव जीवन में उत्थान लाने के लिए, उसमें आत्मा की दिव्यता प्रवाहित करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुई है, नये प्रकार के व्यक्तित्व की मांग करती है। जीवन का नया स्वरूप, नये प्रकार से निर्मित देखना चाहती है। नये भाव के साथ जीवन तथा जगत की ओर हमारा झुकाव देखना चाहती है। नई दृष्टि से संसार का अवलोकन चाहती है। इसमें स्थित पदार्थों तथा प्राणियों के साथ संबंध में, व्यवहार में नवीनता, उच्चता, आत्मा की दिव्यता प्रतिबिम्बित देखना चाहती है। अपने प्रति, मानव-व्यक्तित्व के प्रति, जगत के प्रति आज तक की निर्मित धारणा को परिवर्तित, उसे आत्म-सत्य पर आधारित देखना चाहती है। वस्तुओं के मूल्यों का, उनकी उपयोगिता के विषय में हमारी मान्यता का रूप आध्यात्मिक देखना चाहती है।

नई चेतना विकास की मांग करती है। मानव को, उसके जीवन को वर्त्तमान स्तर से ऊपर एक उच्च धरातल पर उत्थित देखना चाहती है। नई चेतना उत्थान के लिए आवश्यक सभी क्षमताओं से, तत्वों से, शक्तियों से सम्पूरित है। भागवत रूपांतरकारिणी शक्ति के रूप में संसार में कार्य कर रही है। मनुष्य को उसके जीवन-उत्थान में सहायता प्रदान कर रही है। हम इसे काव्यमयी भाषा में प्रभु का अपना मन कहेंगे। यह एक दिव्य भागवत चेतना है जो जग-मंगल के लिए, उसे एक

दिव्य मुक्त चेतना में उठाने के लिए नई संभावनाओं के साथ संसार में अभिव्यक्त हुई है। हम इसके संकल्प के अंदर एक नया आयाम देख रहे हैं। संसार को नई दिशा में मोड़ने की ओर अभिप्रेरित है। अतिमानस कण-कण में विराजमान है। किन्तु अब तक निष्क्रिय था। अन्य दिव्य संभावनाओं की भांति सुप्त था। अब ऊपर से, अतिमानस-लोक से, ज्योति का अवतरण होते ही यह सक्रिय हो उठा है। हम इसे विश्व घटनाओं में, पृथ्वी पर पदार्थों में सक्रिय हुआ देख रहे हैं। इसके लिए कुछ भी असंभव नहीं। धूलिकणों को आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित करना इसकी सहज क्षमताओं में से है।

हे मानव ! शास्त्र-वाचा पर ध्यान दे। तेरी आत्मा का भाव ही सही भाव है। आत्म-विकास की दिशा ही सही दिशा है। आत्मा को सम्मुख लाने वाले, हृदय-आवरण को विदीर्ण करने में सहायक कर्म ही सही शास्त्रोक्त कर्म हैं। अहंकार का वर्जन, मन तथा इंद्रियों की इच्छाओं की पूर्ति के स्थान पर आत्मा के संकल्प की चरितार्थता ही सही पुरुषार्थ है। आत्मा को सत्ता के स्वामी के रूप में सिंहासनारूढ़ करना, उसे सारी सत्ता समर्पित करना, जीवन को उसी के संकल्प की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करना सही, सर्वोच्च लक्ष्य है।

समाधान

भगवान हमारे अंदर है। हमारी सत्ता का आधारभूत सत्य है। हमारे हृदय में आत्मा के पीछे, सहायक के रूप में विराजमान है, पथ-प्रदर्शक के रूप में स्थित है "तिष्ठति"।

बहुत तरह की इच्छाएँ लेकर मनुष्य भगवान के पास आते हैं। इनके मन में कामनाएँ भरी होती हैं। जिन्हें ये प्रार्थना का रूप प्रदान करते हैं। इन्हें कुछ शिकायतें हैं। ये परिस्थिति में परिवर्तन, कुछ हेर-फेर चाहते हैं। जीवन में सुख-सुविधा तथा सफलता लाभ करने के लिए ये अपने ढंग से भगवान का द्वार खटखटाते हैं। प्रार्थना करते हैं। एक सीमा तक इनकी भी प्रार्थनाएँ सुनी जाती हैं। उस सीमा तक जहाँ तक इनके अंदर श्रद्धा है, इनकी आत्मा सहयोग प्रदान करती है, उचित समझती है।

जब तक मनुष्य के अंदर शिकायतें हैं, उसके हृदय में तृष्णा, मन में मांगें हैं, वह स्थायी सुख-शांति प्राप्त नहीं कर सकता। ऊर्ध्वारोहण के पथ पर आरूढ़ नहीं हो सकता। आत्म-उन्नति का सूर्य उसके जीवन पर नहीं चमकता। वह कामनाओं के काले मेघों से ढका रहता है। हम इन्हें यही सलाह देंगे कि परिस्थिति के विषय में शिकायत न करें। उसे स्वीकार कर उसमें उत्थान लाने का प्रयास करें। अनुकूल परिस्थिति के लिए अभीप्सा करें, पुरुषार्थ करें। आत्मा की ओर उद्घाटित हों और उसके सम्मुख सब रखें। चेतना के ऊँचे स्तर

पर अपना निवास संभव बनायें। जहाँ हम पूर्ण रूपेण प्रभु को समर्पित होते हैं। उनके इंगित प़र चलते हैं। उनके संकल्प की चरितार्थता ही हमारे जीवन का, विचारों और कर्मों का स्वरूप होता है। और हम देखेंगे कि सब वैसा ही व्यवस्थित हो गया है जैसा होना चाहिये था, अर्थात् सर्वोत्तम

चेतना का उत्थान, उसका असीम विकास ही समाधन है ।

धन, धन है इसीलिए उसका संग्रह नहीं करना है। जीवन का लक्ष्य आत्मा के द्वारा निर्धारित कर। उसकी पूर्ति के लिए अनिवार्य हो तो धन का उपार्जन कर। तेरा लक्ष्य अगर आत्मा के इंगित पर निर्भर करता है, उसमें जग-मंगल निहित है तो उसके लिए धन भी अवश्य आयेगा। केवल धन ही नहीं अन्य वस्तुएँ भी जुटायी जायेंगी। आवश्यक हो तो व्यक्ति भी एकत्र होंगे। और वे सब पदार्थ भी प्रदान किये जायेंगे जिनका उपस्थित होना इस भागवत कर्म में, तेरे जीवन-यज्ञ में आवश्यक है। धन अपने आपमें एक बहुत छोटी वस्तु है। किन्तु उसका मूल्य तब बढ़ जाता है जब हमारा कार्य पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है। सांसारिक जीवन में सुख-समृद्धि जुटाने के लिए, आत्मा के संकल्प को पूर्णता के साथ चरितार्थ करने के लिए, पृथ्वी के जीवन को अधिक सुन्दर, सुखद बनाने के लिए बौद्धिक क्षमता की भांति संकल्प-शक्ति, धन-शक्ति, सत्यता तथा पुरुषार्थ का होना अनि़वार्य शर्तें हैं।

सारी सृष्टि एक सूत्र

सारी सृष्टि माला के मनकों की भांति एक सूत्र में गुंथी है। आध्यात्मिक स्तर पर आत्मा के रूप में एक ही ईश्वर सबके अंदर विराजमान हैं। मानस तत्व एक है। संपूर्ण विश्वव्यापी मानसिक चेतना एक है। व्यक्ति का मन उसी की केन्द्रीभूत इकाई है। प्राणिक ऊर्जा का सिंधु भी सबके लिए एक ही है। इसी से प्राणिमात्र जीवन पाता है। पार्थिव तत्व जिसके द्वारा हमारे शरीर निर्मित होते हैं, एक है। विश्व-मन, विश्व-प्राण ऊर्जा, विश्व पार्थिव तत्व, ये तीनों ही आत्मा की अभिव्यक्तियाँ, उसकी शक्तियाँ हैं। सृष्टि रचना के लिए यह अनिवार्य चरण था। इस प्रकार सारा विश्व अविभाजित ढंग से एक और अखंड है। हमारी दृष्टि जिसके द्वारा हम हर वस्तु, हर प्राणी को पृथक् देखते हैं, अज्ञान पर आधारित है। यह आंशिक व्यक्तित्व की सतही, उत्तलीय दृष्टि है। हमारी संपूर्ण सत्ता की समग्र दृष्टि नहीं। पूर्ण वस्तु-सत्य अथवा तथ्य नहीं। परम आत्मा के समग्र ज्ञान में आत्मा तथा सृष्टि रूप उसकी इस आत्म-अभिव्यक्ति का यथार्थ ज्ञान हमें प्राप्त होता है। अध्यात्म मानस-स्तरों पर समग्र-ज्ञान प्राप्ति संभव नहीं। उनके परे अतिमानस में उठकर ही हम पदार्थों को देखने की समग्र दृष्टि प्राप्त करते हैं। एक ओर हम परम सत्य की समग्रता को देखते हैं और दूसरी ओर परमार्थ तत्व तथा उसकी अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि को, इसमें क्रियारत शक्तियों को देखते हैं।

लक्ष्य

व्यक्ति-सत्ता और जगत-सत्ता मूल रूप में एक और अभिन्न हैं। इस सत्ता को पाने का सरल, सहज पथ है प्रभु को, उस परम सत्ता को सर्वभावेन समर्पण, जिसकी ये दोनों सत्ताएँ आत्म-अभिव्यक्तियाँ हैं। कुछ हैं जो अपने बाह्य व्यक्तित्व के साथ एक रहते हुए समर्पण करते हैं। कुछ दूसरे, अन्य दृष्टिकोण को लेकर पथ पर अग्रसर होते हैं। वे बाह्य सत्ता को, मन, शरीर तथा इंद्रियों को अपनी सत्ता का अंग नहीं मानते, प्रत्युत् इसे मिथ्या मानते हैं। वे इनके रूपांतर में विश्वास नहीं करते। आत्मा की ज्योति, उसकी दिव्यता का अवतरण इनमें संभव बनाने का प्रयास नहीं करते। वे भी परम सत्ता से, मूल तत्व से तादात्म्य लाभ करते हैं। लेकिन उनका तादात्म्य एकांगी होता है, केवल अंतर्सत्ता युक्त होती है। और इसीलिए बाह्य सत्ता में तथा जीवन में आत्मा की दिव्यता प्रवाहित नहीं कर सकते। उन्हें इसकी चिंता नहीं। वे तो पहले ही इस बाह्य सत्ता को अपनी सत्ता का अंग नहीं मानते। फिर आत्मा में इसकी चेतना के आरोहण का, आत्मा के द्वारा इसके रूपांतर का प्रश्न ही वहाँ कैसे उठे !

जो इस जगत को प्रभु की देह मानते हैं, सीधे या कुछ घुमाव के साथ सब ब्रह्म अथवा ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं, उनका पथ तो अवश्य भिन्न प्रकार का होना चाहिये। उनका लक्ष्य केवल आत्मा का साक्षात्कार नहीं, वह तो पथ की एक

शर्त है ही, उसके बिना तो कुछ भी श्रेयस्कर संभव नहीं, उनका लक्ष्य होना चाहिये जीवन में आत्मा की अभिव्यक्ति, आत्मा की परिपूर्णता और वह पूर्ण व्यक्तित्व के रूपांतर के द्वारा, इसके दिव्यीकरण के द्वारा संभव है।

मानव का अतिमानव में उत्थान, उसमें रूपांतर, भौतिक जीवन का दिव्य जीवन में परिवर्तन, पार्थिव तत्व में अमरत्व की प्राप्ति, आत्मा की दिव्यता में उसका दिव्यीकरण श्री अरविंद के योग का लक्ष्य है।

जब तक तू आत्मा की आँखों से नहीं देखता तब तक अपनी दृष्टि पर निर्भर न कर। तेरी वर्त्तमान मानसिक दृष्टि भ्रांतिपूर्ण है। इस समय तू जो भी देख रहा है वह वस्तुओं का सही स्वरूप नहीं है। केवल सतही, बाह्य, भौतिक स्वरूप है जो उनके भीतर सद्वस्तु की तुलना में गौण है, मिथ्या है। उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। तेरे चारों ओर यह दृश्यमान् जगत अपने मूल में सत्य है, स्वरूप में नहीं। यह अभिव्यक्ति रूप सत्य है, मौलिक नहीं। जगत के सब पदार्थ अंतस्थ आत्मा की, उसके एक, अद्वितीय संकल्प की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। इतना मात्र ही इनका सत्य है। अपने आत्म-विकास को उच्चतम ऊँचाई पर उठाने के लिए इनका उपयोग करना सीख। आत्म-विकास की उच्चतम ऊँचाई पर उठ, संपूर्ण विश्व को अपनी चेतना में धारण कर। तेरे भीतर तेरी आत्मा की यही अभिलाषा है।

चित्त की वृत्तियों का निरोध– जो कि प्राचीन योगों में साधना का एक प्रमुख अंग माना गया है– हम इसे पूर्ण योग की साधना में, अतिमानसिक सिद्धि की ओर, मानव-सत्ता के रूपांतर में, उसके दिव्यीकरण में एक सामान्य प्र क्रिया मानते हैं। जिसका उपयोग अगर साधक चाहे कुछ समय के लिए कर सकता है, उसकी सहायता ले सकता है, एक संक्रमण काल में ही यह प्रक्रिया उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जिस समय हम अपनी चेतना में, अपने स्वभाव में परिवर्तन लाना चाहते हैं, पशुता-मिश्रित जीवन को पीछे छोड़कर, एक उच्च आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करना चाहते हैं तब ऐसी मध्यवर्ती स्थिति में, हम बाह्य नियमों पर, प्रकृति में उठी इच्छाओं, वृत्तियों तथा आवेगों के बाह्य नियंत्रण पर, बाह्य दमन अथवा निरोध पर बल दे सकते हैं। जब तक हमारी चेतना पूर्ण रूपेण परिवर्तित नहीं हो जाती, आत्मा की परिशुद्धता हमारा स्वभाव नहीं बन जाती, हमारा जीवन आंतरिक सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं हो जाता, ऐसी अवस्था में इस प्रक्रिया को उपयोग में ला सकते हैं। जब तक हमारी वृत्तियों की गति बहिर्मुखी है, जब तक हम निम्न प्रकृति की शक्तियों की ओर उद्घाटित हैं, सांसारिक विषयों में हमें रस मिलता है, उनके स्पर्श में मिठास आता है, मन-इंद्रियाँ उनके संयोगों की ओर खिंचती हैं, वियोगों में कष्ट अनुभव करती है। तब तक चाहे हम कितना भी बल प्रयोग करें,

संकल्प लें, व्रत, प्रतिज्ञाएँ करें, उनके निरोध में, निग्रह में स्थायी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। लहरें उठती रहेंगी, हम उन्हें दबाते रहेंगे। संघर्ष जारी रहेगा। उसका अंत नहीं। एक दीर्घ काल के पश्चात् भी, 'कष्टसाध्य परिश्रम के पश्चात् भी हम अपने आपको उसी चेतना-स्तर पर पायेंगे जहाँ प्रारंभ किया था। कारण – दमन, हठ, अथवा निरोध अपने आपमें कोई समाधान नहीं है। ये चीजें स्थायी समाधान प्रदान करने में असमर्थ हैं। सदैव असमर्थ सिद्ध रहीं। यह शास्त्रों का अनुभव सिद्ध कथन है।

चेतना के परिवर्तन के पश्चात् हम वह व्यक्ति ही नहीं रहते जिसमें समस्याएँ थीं, दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक था। हम दूसरे हो जाते हैं। हमारा आंतरिक व्यक्तित्व ज्योतिर्मय हो जाता है, अहंकार का स्थान भागवत संकल्प ग्रहण कर लेता है। बाह्य यांत्रिक प्रकृति समर्पित हो जाती है, आत्म-आदेश-पालन हमारा जीवन, जीवन का स्वरूप हो जाता है। पृथ्वी पर निवास करते हुए हम एक भागवत यंत्र के रूप में जीवन यापन करते हैं, जीवन पर अपना अधिकार नहीं रहता, सब प्रभु पाद-पद्मों में अर्पित हो जाता है, जिसमें छोटी से छोटी क्रिया भी चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक, आंतरिक संकल्प की ही चरितार्थता होती है। तब किसका शमन और किसका दमन, किसका निरोध अथवा विरोध, कौन त्यागी और किसका त्याग। हमारी इस सत्ता-रूपी भवन के सब द्वारों की कुंजियाँ प्रभु के हाथों में होती हैं, वे ही सब निर्णय लेते हैं।

दिशा का, गन्तव्य का चुनाव वे ही करते हैं। कर्म, विचार, भाव सब उनके, उन्हीं के लिए। इस सत्ता में एक मात्र कर्त्ता वे ही होते हैं। दूसरी ओर, अगर हमारे अंदर आत्म-साक्षात्कार की, अपनी सत्ता के सत्य को पाने की ज्वलंत अभीप्सा है, अगर प्रभु के प्रेम में हम इतने डूब गये हैं कि उससे बाहर नहीं आ सकते। मन, शरीर, इंद्रियों में मिलने की ऐसी प्यास जाग जाये कि भूख, नींद, विश्राम आदि उड़ जायें। सारी सत्ता ने मानों मंदिर का रूप ग्रहण कर लिया, जिसमें केवल प्रभु ही निवास करते हैं, कोना-कोना उन्हीं की ज्योति से ज्योतित है, कण-कण उन्हें भेंट चढ़ गया, उनके रंग में रंगा गया। अभीप्सा की इस प्रचंड ज्वाला में, प्रभु-प्रेम की इस तीव्रता में, उनके दर्शन की व्याकुलता में हमारी सत्ता का रोम-रोम आत्मा की दिव्यता के द्वारा अधिकृत हो जाता है। हमारे अंदर ऐसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं रहता, जिसका हमें निरोध करना है, त्याग करना है, जो निम्न हो, जिसे हमें सत्ता से, अपने स्वभाव से बाहर फेंकना होता है।

अवश्य मन का शांत-स्थिर होना योग-साधना में एक अनिवार्य शर्त है। मन जब चंचलता से ऊपर उठकर नीरव हो ज़ाता है तभी आंतर-प्रदेशों में प्रवेश हमारे लिए संभव होता है। किन्तु हमें यह समझना है कि जब तक हमारी सम्पूर्ण सत्ता अपने अंग-प्रत्यंग में, क्रिया, विचार, भाव, वृत्तियों में पूर्णतः शुद्ध नहीं हो जाती, हमारा मन स्थिर नहीं होता। सत्ता की पूर्ण शुद्धि के लिए हमारी चेतना में परिवर्तन, उसमें उत्थान

अनिवार्य है। और वह तभी संभव है जब हम अंतःस्थित दिव्य पुरुष को— जो कि हमारा सच्चा जीवन-स्वामी है— पूर्ण रूप से समर्पित हों। समर्पण के द्वारा हम अंतःसत्ता से युक्त हो जाते हैं, उसकी शांति, शक्ति, ज्योति तथा पवित्रता हमारे जीवन में प्रवाहित होती हैं, हमारी जीवन-धारा आत्मा की ओर बहती है, उसके संकल्प की अभिव्यक्ति ही हमारे जीवन का स्वरूप होता है।

हमारे अंदर वृत्तियाँ हमेशा अवचेतन मन से ही नहीं उठती, वे विश्व-प्रकृति से भी हमारी बाह्य सत्ता में प्रवेश करती हैं। मन, शरीर तथा इंद्रियों को प्रभावित तथा उन्हें अधिकृत करती रहती हैं। जब तक ये उनकी ओर उद्घाटित रहते हैं, इन्हें विषयों में रस है, उनके प्रति आकर्षण है, तब तक उनका प्रभाव बने रहने की, उनके आक्रमणों के होते रहने की, हमारी सत्ता में उनके प्रवेश की संभावना अवश्य बनी रहेगी। अगर हम हठपूर्वक, बाहर से मन पर दबाव डालें, बलपूर्वक नियंत्रित करने का प्रयास करें तो सत्ता में असंतुलन आने की संभावना उत्पन्न हो सकती है, जो देखने में आई है। इस दृष्टिकोण से निरोध अथवा दमन अपने आपमें एक स्थायी समाधान सिद्ध नहीं होता। इसी लिए श्रीअरविंद के योग में चेतना के रूपांतर की, हमारी प्रकृति में, हमारी वृत्तियों में एक सहज, स्वाभाविक आंतरिक परिवर्तन की मांग पर बल दिया जाता है।

योग सूत्रों के खुलते ही, प्रथम दृष्टि में पहले सूत्र का अगर गहराई के साथ अवलोकन करें तो प्रतीत होता है कि हमें एक

गहन समाधि के लिए तैयार किया जा रहा है, जिसकी परिपक्व अवस्था के लिए मन का निर्विकल्प होना परम आवश्यक है। भले ही निर्विकल्प समाधि की अवस्था मानव-सत्ता की चेतना के उत्थान में, उसे विशालता प्रदान करने में, ज्योतिर्मय बनाने में कोई विशेष सहायता प्रदान करती गोचर नहीं होती। हमें सावधान रहना है कि हमारी चेतना का जो स्तर निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करने से पहले होता है, कहीं वही उससे बाहर आने के पश्चात् तो नहीं रहता। अगर ऐसा हो तो हमें सचेतन होने की, अधिक से अधिक सचेतन बनने की आवश्यकता है। कारण, सचेतनता ही योग है। अचेतनता, अचेतन अवस्था नहीं। हमारा लक्ष्य निर्विकल्प होना नहीं, वरन् सचेतन या प्रबुद्ध होना है। परम पुरुष की उस अवस्था के साथ तादात्म्य लाभ करना है जो सर्वज्ञ है और सब कालों में सर्वत्र सचेतन है। जो विश्व-चक्र को घुमाता है, उसमें क्रियाशील शक्तियों को नियंत्रित तथा व्यवस्थित करता है। हमें निर्विकल्पता में डूबना नहीं वरन् अपने संकल्प को उस दिव्य संकल्प के साथ एक रखना है, जो कण-कण में स्थित है और सृष्टि को, इसके लक्ष्य की ओर, मूल उद्गम से युक्त करने के लिए इसे प्रेरित, चालित कर रहा है। फिर भी शायद समय के प्रभाव और उसकी मांग के कारण, मानव विकास की उस समय की स्थिति के कारण अगर हमारे पूर्वजों ने यह मार्ग हमें दर्शाया है तो हम उनके आभारी हैं। उन्होंने जो भी किया अवश्य वह सराहनीय है और हमारे मनोवैज्ञानिक स्कूलों के लिए उपयोगी

सिद्ध होगा। शायद उस समय मानव चेतना इससे अधिक ऊपर उठने के लिए, इससे अधिक उच्च तथा दिव्य स्थिति धारण करने के लिए तैयार नहीं थी। शायद उस समय अतिमानस का अवतरण नहीं हुआ था, वह पार्थिव वातावरण में उपलब्ध नहीं था और फलस्वरूप मानव-प्रकृति का रूपांतर, उसकी संपूर्ण सत्ता का अतिमानसिक दिव्यता में दिव्यीकरण संभव नहीं था, जो कि आज संभव होने जा रहा है। हम सृष्टि-विकास-क्रम में उस युग को एक गहन मनोवैज्ञानिक काल ही कहेंगे, जब महर्षि पातंजल के प्रताप का आलोक भगवान भास्कर की भांति आकाश में भासित था।

साधन-पथ अर्थात् आत्म-विकास का मार्ग तभी तक तलवार की धार पर चलने के समान रहता है जब तक साधक पूर्ण समर्पित नहीं है। समर्पित होते ही साधना का भार स्वयं भगवान उठा लेते हैं। हमारे अंदर वे ही साधना करते हैं। तदनन्तर सब सुखमय, सत्यमय, ज्योतिर्मय, उल्लास प्रदान करने वाला हो जाता है। यह संसार दुख-कष्टों का घर तभी तक नजर आता है जब तक हमारा निवास पृथकत्व की चेतना में है। यह सृष्टि मृत्यु और यमराज के खेलने का मैदान तभी तक है जब तक यहाँ जीवन अज्ञान और अंधकार की छाया में बहता है। मनुष्य प्रकृति की शक्तियों के हाथ के खिलौने तभी तक रहते हैं जब तक आत्म-सत्य से वंचित हैं। वे अपनी इंद्रियों के दास तभी तक हैं जब तक शरीर को अपना आप समझते हैं ! जब तक देहात्म बुद्धि ही उनकी चेतना का सर्वोच्च स्तर है, जब तक अंतस्थ पुरुष के साथ उनका तादात्म्य नहीं है।

वातावरण का महत्व

प्रभु की इस चमत्कार भरी रचना में, इस सुन्दर सृष्टि में जब भी, जो भी अद्भुत घटना घटित हुई, जो भी नवीन अवतरण या अभिव्यक्ति हुई, वह तभी संभव हुई जब विश्व-प्रकृति ने उस विशेष अभिव्यक्ति के लिए सभी आवश्यक और उपयोगी तत्वों को धारण करनेवाला उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत किया। चाहे इस अद्भुत सृष्टि का मूल हम निश्चेतना ही मानें, जैसा कि हमें अपने प्रथम दृष्टिपात में गोचर होता है, तब भी हम सार्थक रूप में ऐसा कह सकते हैं कि भले ही इस सृष्टि का स्वरूप अज्ञानमय हो– इसकी गति अज्ञान में से हो– इसका गंतव्य वही आनंद-स्वरूप चैतन्य-सिंधु है, जिसकी ओर सृष्टि-प्रवाह जाने या अनजाने में स्वतः अथवा प्रेरित होकर, मंद अथवा तीव्र गति के साथ अग्रसर हो रहा है।

हम कह सकते हैं कि अगर हमें किसी अभिव्यक्ति को अथवा अवतरण को संभव बनाना हो तो उसी के अनुरूप वातावरण तैयार करना होता है। उदाहरणार्थ अगर हमें कोई नया बीज बोना होता है तो उसके लिए उपयुक्त स्थल खोजना होता है।

इस सब के सार रूप में यहाँ हमें जो कहना है वह यह है कि अगर किसी व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष को अपने जीवन में या इस संसार में किसी नवीन तत्व को लाना हो,

उसका अवतरण संभव बनाना हो, अथवा अपने अंदर किसी असाधारण, अलौकिक शक्ति, क्षमता या संभावना को प्रकट करना हो, तो उसे उसी प्रकार का वातावरण उत्पन्न करना चाहिये जिसमें आवश्यक वस्तुओं के लिए उपयुक्त स्थिति उपलब्ध हो। वातावरण तैयार होते ही अवतरण स्वतः संभव हो जाता है।

मनुष्य की सीमित मानसिक चेतना असीम भागवत चैतन्य को धारण करने में समर्थ नहीं होती। जीवन में दिव्यता लाने के लिए, अपने विचार, भाव और कर्मों में आत्म-सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए हमें जीवन के सामान्य स्तर से ऊपर उठना होता है। जीवन को आत्मा की पवित्रता, उच्चता तथा विशालता में उठाना होता है। जिसका व्यावहारिक रूप है—अहंकार एवं कामनाओं से प्रेरित जीवन के स्थान पर आत्मा से चालित, आत्मा को समर्पित जीवन यापित करना।

———

अंतस्थ आत्मा की अभिलाषा पूर्ण करना मानव-धर्म है, उसका प्रथम कर्तव्य है। संसार के पदार्थों को उपयोग में लाने का तेरा वर्तमान तरीका अज्ञानपूर्ण है। पहले पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को देखने की दृष्टि प्राप्त कर। इस समय तू केवल पदार्थ की ऊपरी सतह ही देख पाता है। यह उसका सही, शुद्ध, पूर्ण स्वरूप नहीं है। अंतश्चक्षु खुलते ही हम वस्तु के सत्य स्वरूप को, उसकी पूर्णता में देखने में समर्थ होते हैं।

योग-मार्ग

योग मार्ग का अन्त तक सफलता पूर्वक अनुसरण करने के लिए हमारे स्वभाव में जिन गुणों की आवश्यकता है उनमें से उत्साह एक अनिवार्य गुण है। उत्साह के साथ साहस तथा धैर्य का होना भी परम आवश्यक है। बिना उत्साह, साहस और धैर्य के योग मार्ग पर बहुत दूर तक चलना संभव नहीं। उपनिषदें कहती हैं कि यह आत्मा जो हर वस्तु तथा प्राणी के भीतर विद्यमान है और इस जगत को अपने अंदर धारण करता है, केवल बलवान, साहसी, धैर्यवान व्यक्तियों के द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है। दुर्बल इसे प्राप्त नहीं कर सकता, *"अयमात्मा बलहीनेन न लभ्य"*। समय आ सकता है, जब साधक को अपने चहुँ ओर, अंदर-बाहर, अंधकार ही अंधकार दिखायी दे। कहीं द्वार गोचर न हो, कहीं प्रकाश की किरण नजर न आये। संसार विद्रोह का रूप धारण कर उठे, परिस्थिति प्रतिकूल हो, सामाजिक, धार्मिक विरोधों के कारण हम नैराश्य से घिर जायें, आंतरिक खोज में एक दीर्घ काल तक अंधेरी सुरंगों में से हमें गुजरना पड़े, हमारी सत्ता में जो भाग प्रकाश की ओर उद्घाटित नहीं हैं, जिन्हें अंधकार में रहने का अभ्यास है, जिनमें किसी उच्च आध्यात्मिक जीवन के प्रति अभीप्सा नहीं जगी है और इंद्रिय जीवन को, उसके सुख-भोगों को ही मनुष्य का सही तथा सम्पूर्ण जीवन मानते चले आ रहे हैं, वे संघर्ष कर उठें। ठीक ऐसे संघर्षमय, विकट समय में, ऐसी संकटमय घड़ियों में, जब

हमारी साधन-नैया संसार-सागर में डूबती-उतराती-सी नजर आती है, सब नष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है, हमें साहस की, उत्साह की, धैर्य की अति आवश्यकता होती है – साहस तथा उत्साह से भरपूर हृदय हमारा सहायक होता है – अगर हमारे स्वभाव में ये गुण न हों तो पतन की संभावना बनी रहती है। साहस तथा सही अवसर की प्रतीक्षा करने का स्वभाव मनुष्य के सच्चे साथी हैं।

आत्म मंगल के सर्वोच्च शिखर पर आत्मा की चरम परिपूर्णता निवास करती है। यह हर मानव की उच्चतम आध्यात्मिक नियति है। अपने समय पर हर आत्मा इसे अवश्य उपलब्ध करती है। किन्तु कुछ अभीप्सु ऐसी भी हैं जिन्हें यह परिपूर्णता, शीघ्र, "अचिरम्," चाहिये। वे इसके लिए प्रतीक्षा नहीं कर सकते। इन्हें अत्यंत सावधान होकर चलने की आवश्यकता है। अंदर-बाहर अत्यधिक सचेतन रहना है। विश्व-प्रकृति में विरोधी शक्तियाँ भी हैं। वे हमारे साथ छल कर सकती हैं। हमारा प्राणिक अहंकार भी नाना प्रलोभन दिखाकर, लघु मार्ग दर्शा कर, हमें भ्रांत पथ पर भटका सकता है। योग-मार्ग में पर्याप्त दूरी तक, विरोधी शक्तियों के आक्रमणों की, भ्रांत सुझावों की, मिथ्या दर्शनों की संभावना निहित रहती है। सजगता अनिवार्य है।

सृष्टि विधान में परिवर्तन

पृथ्वी पर अतिमानस का अवतरण संभव हुआ है। मनुष्य की सत्ता का तथा उसके जीवन का आत्मा की दिव्यता में रूपांतरण अब एक अनुभसिद्ध कथन है। श्रीअरविन्द अपने महान ग्रंथ "दिव्य जीवन" में इसकी घोषणा कर चुके हैं। सभी सचेतन व्यक्ति जिनके अंदर आत्मा जाग चुकी है, जो मानव जीवन को ऊँचा उठाने के लिए पुरुषार्थरत हैं, उनके हृदय में जो स्पंदन गुंजित हैं उनको अगर हम अपनी भाषा में व्याख्यायित करें तो वह इस प्रकार होगा – हमें सब संकीर्णताओं से बाहर आना है। चाहे वे कितनी भी उच्च कोटि की क्यों न हों। सब कुछ पीछे छोड़ देना है, चाहे वह हमारी बौद्धिक दृष्टि में कितना भी भव्य एवं मूल्यवान क्यों न हों। हमारी दृष्टि में केवल उसी का मूल्य है जो परमेश्वर के द्वारा स्वीकृत है। जिसे हमारी आत्मा ने मूल्यवान मान लिया है। बाह्य दृष्टि में, व्यावहारिक दृष्टि में, सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि में चाहे कोई सिद्धान्त कितना भी उपयोगी सिद्ध हो, हमें तब तक मान्य नहीं है जब तक वह हमारी आत्मा के द्वारा स्वीकृत नहीं है। कोई धर्म, कोई शास्त्र कितना भी ऊँचा, कितना भी श्रेष्ठ तथा स्वर्गों का देने वाला हो, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण का प्रदाता क्यों न हो, जो हमारी आत्मा को, हमारे अंदर बैठे भगवान को स्वीकार्य नहीं, हम उस ओर नहीं ताकेंगे। जो अंतस्थ प्रभु को, हमारी सत्ता के स्वामी को प्रिय

नहीं, हमारा कुछ नहीं लगता। जिसे हृदयेश्वर स्वीकार नहीं करते, जिसकी अनुमति प्रदान नहीं करते, हमारे लिए त्याज्य है। जिसे आत्मा ने पीछे छोड़ दिया है, हमें उससे ऊपर उठना है, परे जाना है।

स्वर्ण युग की इस स्वर्णिम उषा में अतिमानसिक युग के इस प्रथम प्रभात में हम देख रहे हैं कि वह सब पीछे छूट रहा है, जो कठोर, सीमित और अचेतन है। आध्यात्मिक चेतना का सर्वोच्च स्तर पृथ्वी पर अवतरित हो रहा है। अनंत चेतना की अनंत तहों में से एक आज धरती पर मानव के लिए खुली है। यह चेतना जगत को अपने ढंग से व्यवस्थित करने में संलग्न है। जो कुछ हमारी सत्ता में तमसिल है और रूपांतर के लिए अनिच्छुक है, दिव्यीकरण के लिए विरोध करनेवाला है, उस सबका त्याग किया जा रहा है। सर्वत्र एक दबाव है। दम तोड़ते भूतकाल का, अंधकार की काली वृत्तियों का चीत्कार सुन पड़ता है। दिव्यता भू-जीवन में अपने अधिकार के लिए संघर्षरत है। मानव आत्मा प्रभु की, सत्य की विजय के लिए पुकार कर रही है। उज्ज्वल, स्वर्णिम भविष्य अपनी विजय में पूर्ण विश्वास के साथ धीरे किन्तु सुदृढ़ पगों से आगे आ रहा है। जीवन को नई दिशा दिखानेवाला, जग-जीवन में नया मोड़ लानेवाला यह अतिमानसिक युग, जिसे स्वर्णिम युग की संज्ञा श्रीअरविन्द ने प्रदान की है, मानव द्वार पर उपस्थित है। परम सत्य की अंतिम और स्थायी विजय का शंख फूँक रहा है। अब तक की चली आ रही सृष्टि-धारा में, नई धारा विकसित हो

रही है। कुछ भी प्राचीन नहीं रहेगा। मानव भवन में अतिमानव का निवास होगा। पार्थिव जीवन-क्षेत्र को अपने हाथ में लेकर वह वस्तुओं की रचना, आत्मा के गुण, धर्म, स्वभाव के अनुसार करेगा। जब, जहाँ जो आवश्यक समझेगा, उसका रूपांतर करेगा।

जब तक हम आत्मा में निवास नहीं करते, हमारा निवास अहंकार में, बाह्य व्यक्ति-चेतना में है। जिसका अर्थ है हम मिथ्यात्व में रह रहे हैं। हमें इस विषय में सचेतन हो जाना चाहिये और इसके प्रति हमारे अंदर एक प्रतिरोध का, एक संघर्ष का भाव उठना चाहिये। मानों हमें एक असंतुष्टि ने घेर लिया है। मानों हमें छला जा रहा है। वास्तव में हर व्यक्ति प्रकृति के द्वारा पग-पग पर छला जा रहा है। हम अपने आपसे कहें कि, अरे ! यह क्या ! मैं तो मिथ्या में रह रहा हूँ। मैं तो इस बाह्य व्यक्तित्व को, मन अहंकार तथा इंद्रियों को अपना आप समझ रहा हूँ। मुझे इस अज्ञान से, मिथ्या प्रतीति से बाहर आना होगा और अपनी सत्ता के सत्य का दर्शन कर, उसमें अपना निवास संभव बनाना होगा। मेरा सच्चा स्वरूप आत्मा है और उसका साक्षात्कार करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। इसके लिए मैं अब दृढ़प्रतिज्ञ हूँ। हर चुनौती का सामना करने के लिए तत्पर हूँ।

धैर्य-सहनशीलता

सहनशीलता महान गुण है। महापुरुष सबसे अधिक सहन करते हैं। जीवन में अपमान के घूँटों को हँसते-हँसते पी जाते हैं। जब उनकी तपःपूत वाणी को कोई सुनना नहीं चाहता, लोकहित से भरी भावना को ठुकरा दिया जाता है, वेदोक्त मुक्तिदाता, अज्ञान अंधकार से ऊपर उठानवाले वचनों को अनसुना करते हैं, जिनके उद्धार हेतु वे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास की परवाह नहीं करते, वे ही जब उनपर पत्थरों की वर्षा करते हैं तब भी उन्हें गले लगाते हैं। उनपर प्रेम बरसाते हैं। उनके श्रेय में चिंतित रहते, जागरण में रातें बिताते देखे जाते हैं। जो उन्हें निरर्थक कष्ट पहुँचाते हैं अथवा हानि पहुँचाने का प्रयास करते हैं उनपर भी क्रोध नहीं करते।

प्रतिकूल परिस्थिति के लिए अपने आपको कोसना नहीं चाहिये, उसके लिए परेशान होना उचित नहीं। निराश होना भी हमारे लिए सहायक सिद्ध नहीं होता। हमें धैर्यवान बनना होगा। तब तक सहन करते जाना होगा, जब तक भीतर से स्पष्ट रूप में कर्तव्य की प्रेरणा प्राप्त न हो। आध्यात्मिक जीवन हमें सिखाता है कि प्रतिकूल परिस्थिति को धैर्य पूर्वक सहन करें, उसे प्रभु को निवेदित करें, उनकी सहायता तथा पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करें। अगर हम अपने प्रयास में सच्चे हैं तो समस्या से बाहर आने का मार्ग दर्शाया जायेगा। अगर हम उन्हें समर्पित हैं तो कृपा अवश्य बरसेगी और सब परिवर्तित हो

जायेगा। अगर हम भागवत कर्मी हैं तो जीवन लक्ष्य की पूर्ति में, उस प्रतिकूल स्थिति को स्वीकार करना चाहिये। और एक दिन हम देखेंगे कि हमारे सर्वांगीण विकास में वह सहायक सिद्ध होगी। अंतिम सफलता उसके बिना अधूरी रहती। उसका होना अनिवार्य था।

क्षमावान होना महानता है। दयावान होना, देवत्व की पहचान है। ईर्षा-द्वेष करने वालों के लिए भी हृदय में मंगल भावना रखना, स्वभाव में दिव्यता का परिचय है।

जिस समय आदमी जागता है, उसके अंदर आंतरिक जागृति उत्पन्न होती है, या ऐसा कहें कि जब उसके हृदय का पर्दा हटता है और आत्मा की ज्योति मन-बुद्धि पर पड़ती है, उसके विचार ज्योतिर्मय हो जाते हैं, उसका अंतर आलोकित हो जाता है। वह अपने ऊपर दृष्टि डालता है तब जो पहला विचार उसे आता है, उसमें वह पश्चाताप से भरा हुआ प्रभु के सामने खड़ा होकर, नतमस्तक यही कहता है। हे प्रभो ! मुझे क्षमा कर, मैं आज तक अपनी आत्मा को धोखा देता रहा।

व्याकुल हृदय

बहुत लोग मिलने आते हैं, लेकिन देखता हूँ किसी का यह प्रश्न नहीं है कि आत्मा को, अपनी सत्ता के सत्य को कैसे पाया जाये। अवश्य कुछ वेदना से भरा हृदय लेकर आते हैं। किन्तु आत्म-दर्शन की भूख, प्रभु-मिलन की प्यास, उनके एक भाग में जगी होती है, उनकी सारी सत्ता की मांग नहीं होती। देखने में आया है कि संसार में ऐसे विरले ही होते हैं, आत्म-दर्शन जिनकी समस्या बन गयी हो, जो इसके बिना रह नहीं सकते, इसके बिना जिनकी जीवन-गाड़ी रुक गई हो, श्वास अटक रहा हो, खान-पान रुचता न हो, भूख, नींद, विश्राम छोड़कर चले गये हों। मानों इसकी प्राप्ति का पागलपन उनके मन, शरीर और इंद्रियों पर छा गया हो।

श्रोता भी आते हैं, वक्ता भी पधारते हैं। शिक्षित, अशिक्षित सभी प्रकार के, सब स्तरों के व्यक्ति आते हैं। लेकिन आना-जाना मानो उनका स्वभाव बन गया है। स्वाध्याय, ध्यान आदि में बैठना, सब यांत्रिक बनकर रह गया है।

अपने प्रति और जीवन के प्रति, जगत् के प्रति और इसके पदार्थों के प्रति हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा और यह दृष्टिकोण चेतना के परिवर्तन से बदलता है। हमारा दृष्टिकोण, हमारी चेतना की अभिव्यक्ति होता है। तब हम न अपने प्रति आसक्त रहेंगे, न जगत के और न जीवन के। अनासक्त होते ही हमारे अंदर अभीप्सा जागती है। सारी सत्ता पर, अंग-अंग में प्रभु

प्रेम का नशा छा जाता है। हर विचार प्रभु-चरणों की ओर बहता है। हर कर्म में, चेष्टा में उसी का प्रेम प्रतिबिम्बित होता है। तन-मन-हृदय प्रभु की ओर उद्घाटित रहते हैं, उनके प्रति समर्पण की'भावना ही जीवन का स्वरूप, उसका आधारा होाता है।

समर्पण पूर्ण होते ही हम स्वीकार कर लिए जाते हैं। आवरणहीन हृदय में एक दिव्य, जीवंत ज्योतिर्मय पुरुष से हमारा संबंध होता है। उससे प्रेरित होकर जीवन मार्गों पर चलना हमारा स्वभाव बन जाता है।

जिस कर्म के पीछे आत्मा का आदेश नहीं, प्रेरणा और प्रभाव नहीं, उस कर्म को हम कर्तव्य-रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। कारण शब्द के सही अर्थ में कर्म वही है जिसके द्वारा हम आत्म-विकास में अग्रसर होते हैं, या जो हमें मुक्त चेतना में उठाने में सहायक हो। जिस जीवन का लक्ष्य नहीं, जिसकी हर क्रिया में जग-मंगल और आत्म-विकास नहीं, वह मानव जीवन नहीं, एक व्यर्थ-सी गति है। जिस मनुष्य में चैत्य पुरुष सम्मुख नहीं, जहाँ अहंकार का स्थान आत्मा ने ग्रहण नहीं किया, जिस हृदय में इच्छा और आवेग पलते हैं उसे मनुष्य की संज्ञा प्रदान करने से पूर्व शास्त्र एक गहन चिन्ता में डूबे देखे जाते हैं।

मिश्रण गिराता है

यह असंभव है कि एक ओर हम आत्मा के एकत्व में सतत रूप से निवास कर रहे हों और दूसरी ओर पृथ्वी के प्राणियों को, पदार्थों को, अपने से भिन्न, विजातीय देख रहे हों। आत्मा में स्थित योगी अविचल रहता हुआ अज्ञानियों को ज्ञान की ओर, अधर्मियों को धर्म की ओर, पृथकत्व की चेतना में निवास करनेवालों को आत्म-एकत्व की ओर अग्रसर करने का प्रयास करता है। यह सब वह मन से, अहंकार से निश्चित नहीं करता। कारण, आत्मस्थ योगी का कोई चुनाव कभी व्यक्तिगत नहीं होता। वह हर कर्म के लिए, हर निर्णय के लिए ईश्वर पर निर्भर करता है। ईश्वर की प्रेरणा से चलता है। उसका हर कर्म, हर वचन, हर विचार ईश्वर पर, उनके आदेश पर निर्भर करता है। इस विशालता से जरा भी निम्न स्तर की कोई वस्तु अगर हमारी चेतना को अधिकृत करती है, अगर हमारे व्यवहार में उसका थोड़ा-सा मिश्रण भी रहता है, तो हमें सावधान हो जाना चाहिये और समझना चाहिये कि हम आत्म-सत्य से, उसमें निवास से, आत्म-दृष्टि से, उसके प्रकाश में वस्तुओं को देखने के अभ्यास से अभी दूर हैं। हमारा निवास पृथकता में अर्थात् आत्म-अज्ञान में है। हम अभी व्यक्ति-चेतना की परिधि में बंद हैं और परम सत्य का चेतना स्तर, जो कि पूर्णतः असीम है, निर्व्यक्तिक है, हमारी पहुँच के परे है और एक लंबा मार्ग तय करना अभी हमारी नियति है।

वार्ताएं

एक तत्व है, जो सर्वव्यापक है। यही सब है। सब कुछ इसी से आया है। यहाँ या वहाँ जो भी है सब इसी का विस्तार हैं। यह एक अद्भुत वस्तु है, एक विचित्र तत्व है। अपने स्वरूप में यह निर्वैयक्तिक है। एक ऐसा निर्वैयक्तिक जो अपने अंदर एक दिव्य व्यक्तित्व को धारण किये हुए है। यह अनंत है, सर्वव्यापक है, सर्वत्र उपस्थित है। यह सब देखता है, सब करता है। प्रार्थना-पुकार सुनना, उनके प्रत्युत्तर के रूप में घटनाओं में हस्तक्षेप करना, उनको नया रूप प्रदान करना, रक्षा करना, आवश्यकता होने पर संहार करना, हर प्राणी की, उसके विकास की अवस्था के अनुसार पुनर्जन्म की व्यवस्था करना, सृष्टि पर मंगल बरसाना और उसके विकास को अपने ढंग से, अपने दिव्य विधान के अनुसार, सब प्रकार सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ाना इत्यादि – कुछ ऐसे कर्म हैं जिनके द्वारा हम उस एक अखंड, अद्वितीय परम पुरुष को थोड़ा सा समझ पाये हैं। हम समझ पाये हैं कि यह सत्यमय, शक्तिमय और आनंदमय है, हर वस्तु का रूप लेकर भी, उसमें स्थित होकर भी, वह उससे परे रहता है। अपने सत्य स्वरूप से बाहर नहीं आता।

दृष्टि खुलने पर हम देखते हैं कि व्यक्ति-सत्ता का तथा जगत-सत्ता का मूलभूत सत्य यही है। व्यक्ति के अंदर आत्मा तथा उसे धारण कर्ता ईश्वर यही है। जगत में जो व्यवहार हम करते हैं वास्तव में वह इसके साथ ही करते हैं। प्रेम करते हैं

तो इससे, घृणा करते हैं तो इससे, लेन-देन, व्यापार सब इसके साथ होता है। कितना समीप है यह, कितना अपना है, कितना सहायक है, कितना साथ देता है, मानव-मन की कल्पना के बाहर का विषय है। दूसरी ओर, हमें किंचित अहं-केंद्रित देखकर यह दूर हो जाता है, हमारे हृदय में स्वार्थ-भाव आने से यह खिसक जाता है। मोह की बदली छा जाने पर ओझल हो जाता है। इसके असंख्य रूप है, असंख्य भेद हैं।

भागवत-प्रेम में डूबा हमारा आत्मा जब अपनी गहराई में से ऊपर आता है, प्रेम भरी दृष्टि से जगत को अर्थात् हर प्राणी और वस्तु को निहारता है, उसकी दृष्टि हमारे नेत्रों पर छा जाती है, इनके द्वारा देखती है। वह एक स्वर्णिम क्षण होता है। जीवन दिव्य आभा से भर उठता है। जगत का स्वरूप हमारे लिए भिन्न प्रकार का हो जाता है। हम प्रभु का धवल उज्ज्वल प्रकाश, उनका सुंदर स्वर्णिम मुख, उनकी नील कमलीय कांति, मधुर सुखद स्पंदन प्राणी में, पदार्थ में, सर्वत्र देखते हैं। यह सब हमें एक अतीन्द्रिय सुख में अलौकिक आनंद में उठा देता है। हम कुछ और ही होते हैं। यहाँ होते हुए, कहीं और होते हैं। तन-मन में रहते हुए भी आंतरिक सत्य में, प्रभु चरणों में, उन्हें आंसुओं से धोते, भिगोते अपने आपको पाते हैं। क्षण हमारे लिए दिव्य मुहूर्त हो उठता है। जीवन एक दिव्य देन। जब-जब प्रेम-भरी दृष्टि से हम संसार को निहारते हैं, यह जीवन में आत्मा का पदार्पण होता है।

पृथक्करण अनिवार्य

जो मिलने आते हैं उनमें से कुछ हैं जो कहते हैं उनकी स्थिति, साधना का स्तर, सुन्दर है। वे विद्वान हैं।' सच्चे हैं। शास्त्रों का अध्ययन भी अच्छा है। प्रतिभाशाली हैं। उनके अनुसार साधनामय जीवन बिताते उनकी आयु का एक बड़ा भाग बीत चुका है। किन्तु अभी भी उनका पर्दा नहीं हटा। हृदय आवरण-हीन नहीं हुआ। उनके साथ व्यवहार करते समय यह स्पष्ट प्रतीत होता है। वे स्वयं भी एक शिकायत के रूप में यही कहते हैं, इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। जीवन के प्रति उनकी निराशा, खिन्न हृदय, चित्त की अप्रंसन्नता, समत्व का अभाव उनकी चेतना की चादर पर दूर से दिखायी देते हैं। दूसरी ओर, उनके शब्दों में अहंकार बोलता है, उनके कर्मों के पीछे स्वार्थ-भाव स्पष्ट दिखायी देता है। उनमें महत्त्वाकांक्षाएँ हैं। वे कामनाओं के जाल बुनते थकते नहीं। उनके विचार अंतर्प्रेरणा पर निर्भर नहीं करते। उन्होंने वासना की जड़ों पर कुठाराघात करना प्रारंभ नहीं किया है। वे भोगों में बह जाते हैं। इंद्रियों से अपने आपको पृथक् करना उन्होंने नहीं सीखा है।

एक दिन ऐसे ही यह विषय मैंने श्रीमाताजी के सामने रख दिया। मेरे अंदर उन सबके लिए एक मंगल भावना थी। मैं चाहता था कि उन पर कृपा बरसे। जो श्रम वे कर रहे हैं उसका स्वर्णिम फल उन्हें प्राप्त हो। श्रीमाताजी ने मुझे उन सबकी, एक-एक करके आंतरिक स्थिति दिखायी। संपूर्ण सत्ता का पूर्ण

अवलोकन कराया। उन्हें इंगित करते हुए श्रीमाताजी ने कहा "ये समझतें हैं इनमें वासना नहीं। अहंकार नहीं। जीवन प्रभु को समर्पित है। किन्तु नहीं। इनके आत्म-निरीक्षण में पक्षपात है। इनकी सत्ता के निम्न स्तरों पर अभी भी प्रकाश नहीं पहुँचा। इनकी सत्ता का हर भाग उद्घाटित नहीं है। त्वचा में, देह कोशिकाओं में, स्पर्श-सुख की कामना विद्यमान है। उसका स्थान भागवत प्रेम ने नहीं लिया है। इन्होंने अहंकार का त्याग किया है किन्तु अपने सूक्ष्म स्वरूप में वह अभी भी सत्ता का शासन कर रहा है। ये अपने आपको समर्पित समझते हैं। किन्तु अभी भी अधिकांश समय मनोमय पुरुष के निर्णय को ही, अहंकार के चुनाव को ही आत्मा का चुनाव मानते हैं।

अपनी अंतस्थ आत्मा के साथ तादात्म्य, उच्चतम आध्यात्मिक चेतना के प्रति उद्घाटन, जिसका अर्थ है पूर्ण रूपेण आत्म-सत्य में निवास, केवल तभी संभव है जब सारी सत्ता, हमारे निम्नतम भाग शरीर की चेतना के साथ, दीपक की लौ की भांति एकाग्र होर ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। हम सब प्रकार क्षुद्र व्यक्तित्व से, उसकी सब तरह की इच्छाओं से, मांगों से भली-भांति ऊपर उठ जाते हैं, हम एक नये प्रकार के व्यक्ति हो जाते हैं। प्राचीन जीवन के ताने-बाने, सब पीछे छूट जाते हैं। क्षुद्र व्यक्ति के स्थान पर भूमा हो जाते हैं, विराट पुरुष की चेतना में उठ जाते हैं। हमारा जीवन उत्थान लाभ करता है। हम एक ऐसे व्यक्तित्व में निवास करते हैं जिसका आधार एक निर्व्यक्तिक चेतना होती है।

सिंधु की ऊपरी सतह चंचल है, अशांत है। सिंधु की गहराई में शांति है, चैन है।

जिस स्तर पर हम निवास कर रहे हैं – यहाँ स्थायी सुख नहीं है। शांति भी नहीं है। वर्तमान चेतना के स्तर को परिवर्तित करना हमारे अंदर दिव्य पुरुष की मांग है। सत्ता का सत्य भीतर है, गहराई में है। सब दिव्य संपदाएँ, चेतना, सुख, शांति भीतर हैं। भीतर जाओ। भीतर पैठो। भीतर डुबकी लगाओ और आत्मा के इन उपकरणों में, अपने मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुषों में आत्मिक गुणों का संचार करो। यह सही कार्य का, सही दिशा में सही प्रारंभ है। परम चैतन्य के विभिन्न स्तर क्रमिक रूप में ऊपर है। उनका अवतरण संभव है। इनके प्रति ग्रहणशील बनो जिससे कि वे तुम्हारी चेतना में अवतरित हो सकें। ग्रहणशीलता प्राप्त करने के लिए सच्चाई तथा अभीप्सा का होना अनिवार्य है । अर्थात् प्राप्य वस्तु का महत्व समझना, उसकी उपयोगिता जानना, उसके लिए हृदय में उत्कंठा, तीव्र जोश उत्पन्न करना।

———

अपने द्वार और वातायन खोलें और हम देखेंगे कि प्रकाश अंदर आने के लिए प्रयास कर रहा था।

सृष्टि-रचना

हे मानव ! जरा सोच ! यह अद्‌भुत सृष्टि भगवान की रचना है। एक भागवत चेतना इसमें कार्यरत है जो सर्वज्ञ है, जो कभी भूल नहीं कर सकती। जिसके द्वारा किसी भी प्रकार की भूल-भ्रांति का होना असंभव है। इस रचना में कुछ भी निष्प्रयोजन, सारहीन, निरर्थक होना संभव नहीं। मौलिक रूप में पैशाचिक, आसुरिक, वीभत्स अथवा क्रूर नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यह चेतना सर्वशक्तिमान है, सभी दिव्य संभावनाओं का मूल सिंधु है। अतः इसमें एक प्रयोजन है, एक अर्थ छिपा है, जो हर अवतरित आत्मा को खोजना होता है। इसे लीला भी कहा है। किन्तु हमें समझना है कि यह लीला, मात्र लीला नहीं है। केवल खेलने के लिए खेला गया एक ऐसा खेल नहीं है जिसका कोई सार्थक रूप अथवा अभिप्राय न हो। यह सृष्टि एक रहस्यमय, अर्थपूर्ण, अगाध मूल्यों से भरी सूक्ष्म तथा भौतिक रूपों के द्वारा रची गयी प्रभु की आत्म-अभिव्यक्ति है, जिसके कण-कण में वे सचेतन भाव से विराजमान हैं और हर क्षण इसे एक नया मूल्य प्रदान कर रहे हैं। नये अभियानों की ओर प्रेरित करते हुए, नयी उपलब्धियों की ओर उद्‌घाटित करते हुए अपनी चरम आत्म-परिपूर्णता की ओर ले जा रहे हैं।

अनुभव की पराकाष्ठा हमें वस्तुओं का दूसरा रूप दिखायेगी। वह उच्च होगा। उज्ज्वल होगा। सत्य के अधिक समीप, अंतर्निहित सत्य की सीधी अभिव्यक्ति होगा।

अभीप्सा — चरम स्थिति

जो आत्माभिमुख हैं, योगारूढ़ हैं, आयें हम उन शिशुओं की प्रार्थना के साथ अपनी प्रार्थनाएँ सम्मिलित करें। उनके उद्‌गार हैं— हे प्रभो ! "आत्मा की भूख-भरी तड़पन, चिर तृषित हृदय की प्यास, दर्दभरी आह और कितने दिन ! हे माँ ! एक-एक करके दिन बीत रहे हैं, इस अपने अबोध शिशु पर कब प्रसन्न होओगी ? कब आत्म-दर्शन होंगे ? हे माता ! हे जगत जननी ! कब मैं तेरा सच्चा शिशु कहलाने का अधिकारी होऊँगा ? तुम जानती हो, असह्य है यह वर्तमान जीवन, जिसे मैं अपने ढंग से जी रहा हूँ। असह्य है यह दूरी। यह पर्दा। यह अंधकार। अपने स्वरूप के प्रति यह भ्रांत धारणा। यह धोखा, जहाँ आकार को ही सच्चे व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लपटें भीतर जा रही हैं, सब जल रहा है, अंतर बिलकुल नीरस, शुष्क और कठोर है। हे माँ ! हे करुणामयी ! कृपा कर ! इस शिशु को स्वीकार। मेरा उद्धार कर, शरण दे, प्रसन्न हो। तेरी प्रसन्नता के बिना जो उपलब्धियाँ हैं, चाहे वे कितनी भी ऊँची और महान हों, उनसे मेरा आत्मा संतुष्ट नहीं है। मैं वह करना चाहता हूँ जो मेरे प्रभु, इस सृष्टि के स्वामी मुझसे कराना चाहते हैं। मुझे करते हुए देखना चाहते हैं। प्रसन्न हो मातः।

वेद भीतर है। बाह्य शास्त्र का ज्ञान अगर भीतर के ज्ञान के साथ समस्वर नहीं है तो उसे शास्त्र मत समझो। त्याग दो।

दृष्टिपात्

संसार में जिन महान व्यक्तियों ने भयंकर भूलें की, उन्होंने, जब वे भूलें कर रहे थे– अपने ढंग से सब कुछ सही मानकर ही किया था। उस समय उनकी दृष्टि में उनका वह कर्म-विशेष, उसे करने का उनका भाव, उनका दृष्टिकोण सही ही था। वे नहीं जानते थे कि उनके द्वारा निर्धारित नियम मानव जाति को किस अधोगति में गिरायेंगे। उनकी शिक्षा किस प्रकार मानव-जाति की चेतना के स्तर को एक अंधकार भरे गर्त्त में गिरायेगी। उदाहरणार्थ, उस समय वे अनुभव नहीं कर सके थे कि मनुष्य को अकर्मण्यता का पाठ पढ़ाना, संसार को रसातल में ले जाना है। एक महान अवनति के पथ पर ठेल देना है। विशाल आध्यात्मिक चेतना में उत्थान की बात न कहकर, मनुष्य को धर्म की संकीर्ण परिधियों में बंद कर देना और एक धर्म के रहते, एक के बाद एक, धर्मों का निर्माण करते जाना, मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई उत्पन्न कर देना ; मानव मन में दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति घृणा का भाव भर देना, जातीय एकता के स्थान पर भिन्न-भिन्न जातियाँ खड़ी कर देना, उनके आपसी संबंधों में विषमता लाने का प्रयास करना, आत्म-सत्य पर आधारित श्रुति-शास्त्रों की शिक्षा की अवहेलना कर, धर्म-गुरु के वचनों को ही सर्वोच्च शास्त्र मानने के लिए प्रेरित करना इत्यादि बहुत से निम्नस्तरीय कर्म हैं जो मनुष्य ने किये और जिनका परिणाम हम आज भोग रहे हैं। जिसके फलस्वरूप

पृथ्वी का वातावरण आज इतना विषैला है कि जाति रूप में, जातीय स्तर पर मनुष्य को सुखी बनाना असंभव प्रतीत हो रहा है। मानव जाति का स्तर एक ऐसे उच्च धरातल पर उठाना, जहाँ सब परस्पर मिलकर चल सकें, विकास कर सकें, आज एक स्वप्न दिखायी दे रहा है। एक ऐसे अंधकार में मानव चेतना डूबी दिखायी दे रही है, जहाँ से ऊपर उठकर उस विशालता में निवास करना– जहाँ मानव मात्र एक है, हम सब परस्पर भाई हैं, एक पिता की संतान हैं, सारा विश्व एक ही परिवार है– हमारी पहुँच के बाहर होता जा रहा है। जहाँ हमें एक दूसरे को उन्नत देखकर सुख अनुभव करना चाहिये वहाँ हम परस्पर ईर्षा करते हैं। किसी व्यक्ति में कितने भी महान गुण हों, किन्तु अगर वह हमारे धर्म का अवलम्बी नहीं और दूसरे धर्म को मानता है तो हमें उसके अन्दर एक भी गुण दिखायी नहीं देता। दोष ही दोष दिखायी देते हैं। यही है प्रचलित धर्मों की देन। यह है धर्म रूपी पर्दा, जो मनुष्यों की आँखों पर ऐसे हर व्यक्ति को दिखायी दे रहा है जिसका निवास एक उच्च चेतना में है। जिसकी दृष्टि में आत्म-सत्य की विशालता छा गयी है।

एक सहायक इस सृष्टि में उपलब्ध है, जो अकारण सहायता करता है। शायद उसे इसमें आनंद की अनुभूति होती हो। उसकी सहायता को पुकार। उसकी खोज को जीवन-लक्ष्य के रूप में चुन। तेरा मंगल होगा। तू जीवन के रहस्यों के विषय में सचेतन बनेगा। जग-सत्ता का आंतरिक सत्य, तुझे प्रदान किया जायेगा।

अकर्मण्यता

अकर्मण्यता एक अभावात्मक स्थिति है। और किसी भी अभावात्मक स्थिति में हम किसी मंगलकारी, शुभ परिणाम की, किसी उपलब्धि की आशा नहीं कर सकते। अकर्मण्यता जड़ता की अंधकार भरी रात्रि है जिसमें केवल वही पतित होते हैं, जिनमें जैसा कि कहा जाता है, आत्मा नहीं है अर्थात् सुप्त है, जाग्रत नहीं है। मानव जीवन एक खोज है जिसमें हमारी आत्मा अपने उद्गम को, मूल स्वरूप को खोज रही है जो कि अमृत का, आनंद का सिंधु है। उसीसे पृथक् होकर एक दिन वह यहाँ भू-जीवन में अवतरित हुई थी। इसी लक्ष्य को अपने हृदय में धारण किये वह विकास-पथ पर अग्रसर है। भले ही हम आज इस विषय में तथा अपनी आत्मा के विषय में अचेतन हैं। किंतु जैसे ही हम सचेतन होते हैं और अपनी सत्ता के मूल को उपलब्ध करते हैं, जो कि पूर्ण चेतन वस्तु है, हमें सृष्टि का रहस्य, अपने भू जीवन पर अवतरित होने का प्रयोजन ज्ञात हो जाता है। हम समझ जाते है कि उस एक अखंड, चैतन्य सत्ता ने इस जगत को क्यों सृष्ट किया है और इसमें हमारा क्या कर्तव्य है। हमारे हृदय में स्थित प्रभु की हमसे क्या मांग है; उनके दिव्य संकल्प के प्रति हम सचेतन हो जाते हैं। हम उनकी ओर मुड़ते हैं। सत्ता के हर अंग को उनकी ओर उद्घाटित कर, उनकी चेतना और ज्योति को अपने इन यंत्रों में ग्रहण करते हैं। जीवन को आत्म-अभिव्यक्ति का रूप प्रदान

करना, आत्म चेतना और उसकी दिव्यता में उठना, उसके द्वारा अपनी संपूर्ण सत्ता को दिव्यता में रूपांतरित करना, संसार में उसे संभाव्य बनाना, यही धरती पर अवतरित आत्मा का लक्ष्य, उसकी संसिद्धि है।

जब तक लक्ष्य-प्राप्ति न हो, जब तक पर्दा न हटे, आत्म-साक्षात्कार रूपी फल प्राप्त न हो, तब तक आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिये। सफलता प्राप्त करने के लिए जो भी आवश्यक लगे उसे अपने कार्यक्रम में संयुक्त करते चलना चाहिये। शास्त्रों में, शिक्षा में सीमाएँ हो सकती हैं। हमें इनमें दोष भी दिखायी दे सकते हैं। किन्तु दोष देखना समाधान नहीं। हमें उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिये। हमें शिक्षा को आचरण में लाना है। और जब तक लक्ष्य सिद्धि न हो तब तक आवश्यक सहायता, आवश्यक पथ-प्रदर्शन प्राप्त करते रहना है, चाहे वह कहीं से भी मिले।

हमें अपने चारों ओर का वातावरण ऐसा बनाना है, जिसमें पूर्ण एकाग्र, शांत और आत्मा के समीप रह सकें। सचेतनता सब उपलब्धियों की कुंजी है। जो सब समय हमारे पास रहनी चाहिए।

चैत्य पुरुष – १

हमारी सत्ता का वह भाग जो नित्य है – हमारा सच्चा व्यक्तित्व – जो शरीर के नष्ट होने पर भी स्थित रहता है, जिसे मन, शरीर, इंद्रियाँ आदि यंत्र रूप में मिलते हैं, चैत्य पुरुष है। इसे ही मानव-आत्मा कहा गया है। यह प्रभु का अंश है और जन्म-जन्मांतरों के अनुभव से अपने पूर्ण विकास को प्राप्त होता है। सृष्टि में अवतरित होने के प्रारंभिक काल में, अपने प्रथम जन्मों में यह केवल एक अग्नि-स्फुलिंग के समान होता है और वनस्पति तथा पशु-जगत के असंख्य जन्मों में से गुजरकर एक साधारण-सा गठित व्यक्तित्व धारण करने में सफल होता है। तब तक यह पुरुष नहीं कहलाता। हम इसे मानव-आत्मा अथवा अंतरात्मा कहते हैं। अपने विकास की द्वितीय स्थिति में जब यह मानव देह में आता है, इसे हानि-लाभ को आगे रख कर चलने वाला प्राणिक मन तथा शुभाशुभ का विचार करने में सब प्रकार समर्थ मन-बुद्धि मिलते हैं। तब यह अपने व्यक्तित्व को एक ठोस रूप प्रदान करने में सफल होता है। किन्तु यहाँ भी यह अपनी दिव्य प्रकृति को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः सफल नहीं हो पाता। मनोमय, प्राणमय, अन्नमय पुरुष आपनी-अपनी प्रकृति के द्वारा अधिकृत रहते हैं। इनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं। विषय-भोगों में असक्ति ही इनके जीवन का स्वरूप होता है। यह हमारा बाह्य यांत्रिक व्यक्तित्व है। हम इस बाह्य व्यक्ति में

इतने डूब जाते हैं, हमारा तादात्म्य इसके साथ इतना गहरा होता है कि इसके परे भी कोई सद्वस्तु है अथवा कोई दिव्य व्यक्तित्व, दिव्य प्रकृति, विकास की उच्च संभावना हो सकती है, यह विचार हमारे अंदर नहीं उठता। हम जहाँ हैं संतुष्ट रहते हैं। मानव रूप में इस प्रकार बहुत से जन्म लेने के पश्चात् – जब अनुभवों का एक अति विशाल आगार भर जाता है – हमारी आत्मा अपने अंदर एक विशेष सबलता का, जागृति का अनुभव करने लगती है। प्रकृति की दासता उसके लिए असह्य हो उठती है। एक असंतुष्टि से वह अपने आपको घिरा पाती है, उसके अंदर आत्म-परिपूर्णता की प्यास जागती है। वह इन यंत्रों की क्रियाओं में हस्तक्षेप करना प्रारंभ करती है और इन्हें आत्म-दिव्यता की ओर मोड़ने की सफल चेष्टा करती है।

सच्चे सौंदर्य का बोध आत्मा को ही है। प्राकृतिक हो या कृत्रिम, मन, हृदय तथा इंद्रियों तक ही जिसका सौंदर्य तथा जिसकी संतुष्टि सीमित है, उसे हम कला की पूर्ण, सर्वोच्च अभिव्यक्ति नहीं कहेंगे। जो सौंदर्य, जो कला आत्मा को स्पर्श करे, उसमें जागृति उत्पन्न करे, वस्तुस्थिति के प्रति सच्चा बोध उत्पन्न कर दे, जो अपने माधुर्य में, अपनी दिव्यता में आत्मा सहित सारी सत्ता को डुबा दे, वही कला की पूर्णता है, वही उसका प्रयोजन।

चैत्य पुरुष – २

चैत्य पुरुष की अधीनता में, उसके पथ-प्रदर्शन में मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुष जब देखते हैं कि उनके स्वभाव में शांति, सत्यता तथा प्रकाश की वृद्धि हो रही है, वे धीरे-धीरे जीवन के हर क्षेत्र में, अधिकाधिक मात्रा में इसका शासन स्वीकार करने लगते हैं। वे इसकी ओर उद्घाटित होते हैं और इसकी प्रेरणा और आदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। इस स्थिति में चैत्य पुरुष भी अपने प्रभाव को स्थायी और बलशाली बनाता है, अपने दिव्य स्वभाव को मन, शरीर, इंद्रियों पर आरोपित करता है। अंतरतम सत्य की अभिव्यक्ति को जीवन का स्वरूप प्रदान करता है, उसे लक्ष्य रूप में निर्धारित करता है।

जब हमारी मन सहित सारी सत्ता अतःस्थित दिव्य पुरुष को जीवन-स्वामी के रूप में स्वीकार कर लेती है और उसे समर्पित हो जाती है, उच्च स्तरों की शक्तियाँ हमें चुनती हैं। वे हमारी सत्ता में अवतरित होती हैं और रूपांतर के कार्य को सम्पन्न करने में हमारी सहायता करती हैं। यहाँ हमें जिस तथ्य-विशेष के प्रति सावधान रहना है, वह है कि इंद्रिय जीवन संबंधी निम्न वस्तुओं में रस पाने की प्रवृत्ति जब तक अंतर्मुखता का भाव नहीं अपना लेती, हृदयेश्वर को समर्पित नहीं हो जाती, तब तक जीवन में उत्थान लाभ करना, आध्यात्मिक स्तर की किसी ठोस अनुभूति की आशा करना, व्यर्थ है। हम दिव्य शक्तियों के द्वारा नहीं चुने जा सकते।

चैत्य पुरुष – ३

हमारी सत्ता में हमारा चैत्य पुरुष, हमारी आत्मा, भगवान का अंश है, अध्यात्म तत्व से निर्मित है, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय इन तीनों पुरुषों के पीछे हमारे सच्चे व्यक्तित्व के रूप में स्थित है। यही भव-सागर में शाश्वत यात्री है, आवागमन के चक्र में घूमने वाला प्रभु का अंश, मानव-आत्मा है। यही वह है जो पृथ्वी पर अवतरित होता है और मानव-प्रकृति का चोला अपने ऊपर ओढ़ता है। भले ही प्रारंभ के जन्मों में जब अपने अनुभवों के भंडार में यह विशेष तत्वों को संग्रहित नहीं कर पाता, इसका ज्ञान इसकी दृष्टि अत्यंत सीमित होती है। जन्म-जन्मांतरों के अनुभवों के पश्चात् जब अनुभवों का आगार पूर्णतः भर जाता है, इसमें जागृति आती है। यह सांसारिक सुख-भोगों में रस न लेकर, आत्मा के आनंद की खोज जीवन-लक्ष्य के रूप में चुनता है, अंतर्मुखता का भाव अपनाता है। मन, प्राण, शरीर, अहंकार-रूपी यंत्रों की इच्छाओं की पूर्ति में संलग्न न रहकर जीवन की गति को, उसकी धारा को ऊर्ध्व चेतनाओं की ओर मोड़ता है अपने कर्म, विचार तथा भावों में हृदयेश्वर के संकल्प को चरितार्थ करता है।

आत्म-विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में आत्मा के अंदर इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह यंत्रों पर प्रभुत्व स्थापित कर सके, उन्हें जिस दिशा में चाहे मोड़ सके, जीवन में जो परिवर्तन लाना चाहे ला सके। बहुत जन्मों के पश्चात् जब अनुभवों की

सामग्री उसके पास प्रचुर मात्रा में हो जाती है और वह अपने आपको अपने यंत्रों से, उनकी प्रकृति से पृथक् करने में सफल हो जाता है तब उसके अंदर वह क्षमता विकसित होती है जिसके द्वारा इन यंत्रों पर प्रभुत्व करना, इनमें विवेक जगाना, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान प्रदान करना उसके लिए संभव हो जाता है। तब वह पर्दे से बाहर आता है और जीवन-नौका की पतवार अपने हाथों में संभालता है। उसे आत्मा की ओर मोड़ता है। आत्मा की ओर मुड़ते ही हमारे ऊपर सुख-शांति, मंगल बरसता है। प्रभु-आशीर्वाद प्राप्त होता है। उनकी कृपा हमारे मार्गों को संवारती है। उनका मंगलमय साया हमारे शीश पर छाया रहता है। उनका वरद हस्त हमारे पीछे विद्यमान रहता है। हम केवल वही करते हैं जो प्रभु चाहते हैं, उनके संकल्प की अभिव्यक्ति ही हमारे जीवन का स्वरूप होता है।

अगर हम अपने वर्धित होते हुए ज्ञान में एक स्तर और ऊँचे उठ जायें हम देखेंगे कि वे जगदीश्वर इस सृष्टि के कर्त्ता, इसके पालक-रक्षक प्राणी मात्र के हृदय में विराजमान हैं और जहाँ एक बार हमें भागवत उपस्थिति की यह अनुभूति होने लगी, हमारे जीवन आकाश में स्वर्णिम सूर्य का उदय होना सुनिश्चित है।

दो बातें

अगर हम संसार में एक शुद्ध भागवत यंत्र के रूप में जीवन यापन करना चाहते हैं, हम चाहते हैं कि हमारी प्रकृति के सब दोष और दुर्बलताएं झड़ जाएं, हम मनुष्य की सामान्य चेतना से ऊपर उठें, उसका अतिक्रमण करें, तो हमें दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। प्रथम, हमारा समर्पण पूर्ण अर्थात् सर्वांगीण हो, जिसमें अपनेपन का, व्यक्तिगत इच्छाओं का, पसंदगियों का स्थान न हो। हृदय मंदिर पूर्ण रूप से शुद्ध हो, स्वच्छ हो। द्वितीय, हमारे अंदर एक ऐसी अटूट श्रद्धा हो कि मेरे साथ केवल वही घटित होगा जिसमें मेरा आत्म-मंगल है, आत्म-विकास छुपा है, जो मेरे प्रभु की इच्छा के अंतर्गत है। हमारे हृदय में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि मेरे साथ वैसी कोई चीज घटित नहीं होगी, जो प्रभु की स्वीकृति के बाहर हो, चाहे मुझे स्पष्ट दिखाई दे कि मेरा सब कुछ छिन रहा है, मिट रहा है। चाहे मुझे सृष्टि मंच पर नग्न किया जा रहा हो, चाहे क्रूस पर लटकाया जा रहा हो। भले ही हम आज न समझें, लेकिन एक दिन समझेंगे कि वह घटना सर्वोच्च चेतना की ही अभिव्यक्ति थी। परम पुरुष की ही इच्छा थी। उसी की कृपा का अबोधगम्य रूप था, उसने हमें ऊपर उठाया है, महान बनाया है। प्रभु के प्रियजनों में हमारा नाम अंकित किया है।

दृष्टि-परिवर्तन

जब आत्म-साक्षात्कार का प्रश्न आता है तब हमारी चेतना देश, जाति और धर्म से ऊपर उठ जाती है। हम परमेश्वर की ओर मुड़ते हैं और उन्हें अपनी संपूर्ण सत्ता, जीवन तथा कर्म समर्पित करते हैं। हमारी वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। बाहर वही रहते हैं। भीतर सब परिवर्तित हो जाता है। हृदय का आवरण गिर जाता है। चेतना के परिवर्तन के साथ पदार्थों और प्राणियों को देखने की, उन्हें मूल्य प्रदान करने की हमारी दृष्टि बदल जाती है। हम हर देश, धर्म और जाति के पीछे परमात्मा का एक ही प्रकाश देखते हैं। उनके पीछे एक ही चेतना, एक ही अस्तित्व को पाते हैं। उसी एक सृष्टिकर्त्ता का विस्तार हमें गोचर होता है। आंतरिक चेतना में, आंतरिक स्तर पर अरूप, अनाम रहते हुए भी इस नाम रूपमय जगत में हम वही व्यक्ति रहते हैं। अंतर इतना ही हो जाता है कि पहले हमें एक सीमित चेतना, व्यक्तिगत अहंकार चलाता था, जो अज्ञानजनित था और अब यह व्यक्तित्व उस चेतना का यंत्र होता है जो विश्व के पीछे है, इसके अंदर है और इसे गंतव्य की ओर ले जा रही है। जब व्यक्ति इस चेतना का यंत्र बन जाता है, जब आंतरिक सत्य के साथ समस्वर रहता है, हम वही करते हैं, हमारे मन में वही विचार, हृदय में वही भाव उठते हैं जो अंतस्थ देव से प्रेरणा रूप में हम ग्रहण करते हैं।

वेद को जन्म दें

जब तक हमारे अंदर कामनाएँ हैं, स्वार्थ-भाव है, इंद्रियों पर नियंत्रण नहीं, द्वेष-भावना और क्रोध हमारे हृदय में निवास करते हैं, तब तक हम विश्व-प्रकृति की शक्तियों के हाथ के खिलौने हैं। हमारा जीवन अहंकार से प्रभावित रहता है। उसकी गति निम्नमुखी होती है। उसमें आत्मा के प्रकाश का, उसकी शांति का तथा आंतरिक प्रसन्नता का अभाव रहता है। ऐसे जीवन में आध्यात्मिक उन्नति करना, आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर होना कठिन होता है। जीवन के इस स्तर पर निवास करते हुए वेदों को समझना, अपने हृदय में आध्यात्मिक वेद को जन्म देना, अतिमानसिक चेतना-स्तरों से उसका अवतरण संभव बनाना, प्रायः असंभव ही रहता है। हमें चाहिये कि प्रभु को समर्पित जीवन जीने का संकल्प लें। विषय-भोगों के सुख की क्षण-भंगुरता, उसकी निस्सारता समझें। शास्त्र-अध्ययन की शरण ग्रहण करें। उनकी शिक्षा के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्धारित करें। उसी के चारों ओर अपने भावों को, विचारों को केन्द्रित करें। तभी हम जीवन के इस स्तर से ऊपर उठ सकते हैं। अपनी चेतना में आत्मा की उच्चता, विशालता तथा दिव्यता का अवतरण संभव बना सकते हैं।

उच्च, ज्योतिर्मय चेतनाओं के अवतरणों से सम्पूरित जीवन ही सही मानव जीवन है।

प्रथम स्पर्श

उसका प्रथम स्पर्श जब मैंने पाया, मैं सुध-बुध खो बैठा। जब-जब उसमें प्रवेश संभव होता है, शारीरिक चेतना से संपर्क टूट जाता है। केवल भीतर सचेतन होता हूँ। अंदर-बाहर एक साथ सचेतनता बनी रहना आध्यात्मिक आदर्श स्थिति है। मैंने उसे प्रणाम किये हैं। उसके चरणारविन्दों को चूमा है। किन्तु उसके आदेश से, उसके लिए धर्म-युद्ध में खून-पसीना बहाने पर जो तृप्ति पायी वह अनुपम थी, गहनतम थी।

आत्मा के साथ तादात्म्य होते ही, आत्म-चेतना में प्रवेश होते ही, उसकी शाश्वतता में एक ऐसी शांति का अनुभव करते हैं, जिसकी उपमा त्रिलोकी में किसी वस्तु के साथ नहीं दी जा सकती। हमारे अंदर असीम साहस आ जाता है। हमारे वातावरण में अपार निर्भीकता छायी रहती है। एक अगाध निश्चिंतता से हम घिरे रहते हैं। इनका स्वरूप इतना विशाल होता है कि शत-शत सिन्धु मिलकर भी उन्हें धारण नहीं कर सकते।

आत्म-साक्षात्कार के लिए हृदय में तड़प, प्राणों में अंतर्वेदना से भरी पुकार, बुद्धि में एकाग्रता, मन में एक ज्योतिर्मय चिंतन-मनन, रोम-रोम में चकोर जैसी चाह, सारी सत्ता की दीपक की लौ की भांति ऊर्ध्वमुखी गति।

वट वृक्ष की छाया में

उपनिषदों में एक इतिहास आता है, एक विशाल वट वृक्ष के नीचे एक बालक बैठा है। उसके सम्मुख बहुत से ऋषि-मुनि बैठे हैं, जिनके केश श्वेत हैं। इन सब ऋषि-मुनियों के अपने-अपने प्रश्न हैं, अपनी-अपनी शंकाएँ हैं। किन्तु कोई शब्दों में प्रकट नहीं कर रहा है। वह बालक भी मौन है। मौन व्याख्यान प्रदान कर रहा है। कोई कुछ नहीं बोलता है। फिर भी शंकाओं का समाधान हो रहा है। प्रश्न उत्तर पा रहे हैं। वातावरण शांत है, नीरव है। सब निस्तब्ध है। कुछ की आँखें बंद हैं, कुछ की खुली हैं। किन्तु भृकुटि सबकी चढ़ी है। आंतरिक चेतना में सब उन्मुक्त हैं। ग्रहणशील हैं। बालक का अंर्तमन ऋषियों के अंतर्मन को स्पर्श कर रहा है। उससे संपूर्ण सत्ता आलोकित है। संदेश सीधा आत्मा से आत्मा में पहुँच रहा है। अंदर-बाहर वातावरण गंभीर है। सब दिव्य है, अद्भुत है। मन की पहुँच के परे है।

क्या हम समझ सकते हैं कि चेतना का, कार्य करने का यह कौन-सा स्तर है ! कुछ भी हो, यह एक अति शक्तिशाली ढंग है। अतिमानसिक युग में इसका प्रयोग सामान्य, स्वाभाविक होगा। श्रीमाताजी को मैंने अपने साथ कई बार इसका प्रयोग करते देखा था। मेरे संस्मरणों में उसकी चर्चा है।

सच्चे सुख की ओर

सुख पाना, सुखी होना सभी चाहते हैं। लेकिन सुख क्या है इसकी परिभाषा हम सबकी अपनी-अपनी है। अगर हमें पूछा जाय, सुख क्या है, किसमें है, उसका स्वरूप क्या है ? तो इस विषय में हमारा सबका भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होगा। सुख के पदार्थ और उसे अनुभव करने के प्रकार भिन्न होंगे। अगर हम इस सुख का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो देखेंगे कि हम एक ऐसी अवस्था, एक ऐसी स्थिति की मांग कर रहे हैं जिसमें हम ऐसे डूबें कि अपने आपको भूल जायें। और अगर हम अपने से स्वयं प्रश्न करें कि यह मेरा अपना आप क्या है जिसे मैं इतना महत्व प्रदान करता हूँ ! तब हम देखते हैं कि हम इसका स्पष्ट उत्तर देने में समर्थ नहीं हैं। हमें अपने व्यक्तित्व में ऐसा कोई बिंदु नजर नहीं आता है जिसे हम अपना आप कह सकें। हमारी सत्ता के कई स्तर है, कई भाग हैं, उसमें कई व्यक्तित्व हैं और इन सबका मिश्रण, इनका संघटन ही हमारा यह व्यक्तित्व है। वास्तव में अपने व्यक्तित्व के विषय में हम अभी केवल आंशिक रूप में, बाह्य स्तर पर ही सचेतन हैं। हम अपने आपको जितना जानते हैं, उससे कहीं अधिक हैं। हमारी सत्ता का एक अति विशाल भाग हमारे व्यक्तित्व के पीछे विद्यमान है।

———

पत्र

देव सुता ! दिव्य आत्मा !

हर प्राणी में विकासोन्मुखी आत्मा है। जहाँ जीवन है, जहाँ विकास है, वहाँ आत्मा अवश्य है। जन्म-जन्मांतरों के द्वारा यह विकास की एक ऐसी अवस्था में पदार्पण करता है जहाँ हमारे जीवन की घटनाओं में हस्तक्षेप करना प्रारंभ करता है। इसे ऊपरी तल पर लाना होता है। सक्रिय बनाना होता है। अगर सृष्टि-विधान में यह दिव्य तत्व ओत-प्रोत न होता, तो आत्मान्वेषण की यह यात्रा, आत्म-अनुसंधान का यह विकट और महान कर्म कठिन ही नहीं, प्रायः असंभव रहता। प्रभु ने मानव स्वभाव की रचना की। उसे निर्मित करते समय उन्हें उसकी दुर्बलताओं का ज्ञान था। अतः उन्होंने अपने दिव्य अंश के रूप में एक ऐसा तत्व उसके हृदय में बैठाया, जो असंख्य दुर्बलताओं के होते हुए भी प्रकृति से हार मानने को कभी तैयार नहीं है। हर प्राणी के पास निराशा के अंध-कूप में, जब वह जीवन के सपनों से दूर, इसे समाप्त करने के विचार के समीप होता है, यह भागवत तेजोमय दिव्य स्फुलिंग नव जीवन की आशा का संदेश बनकर नव प्रेरणा का संचार करता हुआ पर्दे से बाहर आता है। वास्तव में यह हमारे भीतर आत्मा ही है, जिससे प्रभावित होकर मनुष्य मृत्यु के मुख में, भयंकर संकटमय स्थितियों में, विनाशकारी घड़ियों में, जीवित रहने की बात सोच सकता है। नव-जन्म और जीवन प्राप्त करता है।

हे निराश हृदय ! संकट की घड़ियों में प्रभु को पुकार ! तेरी सहायता अवश्य होगी। सृष्टि के पीछे एक. सहायता विद्यमान है। जो पुकारने पर अवश्य प्राप्त होती है। इसे प्रकट होने में देर नहीं लगती। देर तो हमारी ओर से होती है, हमारे पुकारने की है। अगर हम अपनी आत्मा की वाणी को – जो कि हमेशा एक आशा का संदेश होती है– सुनने में अपने आपको अयोग्य पाते हैं तो शास्त्र वचन में श्रद्धा रखें। उसे प्रकट करने के लिए जिस छोटी सी वस्तु की आवश्यकता है वह है श्रद्धा। पुकार के पंथ अनेक हैं। किंतु सब श्रद्धा पर आधारित हैं। बिना श्रद्धा की पुकार यज्ञ समाप्ति पर बुझते हुए उस यज्ञ-कुंड की शिखा के समान होती है जो दीखती तो है ऊपर उठते परंतु हर क्षण नीची ही होती जाती है। पूर्ण निराशा की घड़ियों में भी जब सब ओर अंधकार ही अंधकार नजर आता है, हृदय में, हमारा आत्मा आशा के निर्झर के निर्मल जल से परिप्लावित रहता है। तू उसकी शरण में जा। वहाँ बैठ। उसे पुकार। अपनी सत्ता के सब द्वार उसकी ओर खोल। उसे जीवन में प्रवाहित होने दे। हम देखेंगे, सब परिवर्तित हो गया। आनंद से भरपूर, मंगलमय हो उठा। और हमारे पास शायद ही इससे अधिक कुछ करने को हो – कि आनंदमग्न होकर, बार-बार झुकें। नत-मस्तक होते रहें।

समय आ गया है, हमें हर वस्तु के नये स्वरूप को, उच्चतम स्वरूप को खोजना है। प्राचीन अर्थात् उसके वर्तमान स्वरूप से संतुष्ट नहीं रहना है। हमें व्यक्ति को, व्यक्तित्व को, जीवन को तथा जगत को नया स्वरूप प्रदान करना है। जिसे शास्त्रों में आध्यात्मिक स्वरूप कहा है। वही इनका सही सच्चा स्वरूप है। उस नये स्वरूप की अभिव्यक्ति को संसार में, मनुष्य के जीवन में सतत संभव बनाने की मांग आज नई चेतना, जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक चेतना कहा है, हमसे कर रही है। अतिमानसिक चेतना मानव को उसकी व्यक्तिगत तथा समाजगत सभी समस्याओं का समाधान प्रदान करने में सुसमर्थ होगी।

—सुखवीर आर्य

एक उच्च, नये प्रकार का, नये तत्वों पर आधारित आध्यात्मिक जीवन यापन करने में सहायक कुछ नये ग्रन्थ –

शास्त्रों की दृष्टि में जीवन क्या है, किस लिए है, उसका स्वरूप कैसा होना चाहिये, सच्ची सफलता किसे कहते हैं, वह कैसे प्राप्त होती है। इसी का उत्तर है– 'दिव्य जीवन की ओर'। जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार को लक्ष्य रूप में चुना, किन्तु किन्हीं कारणों से, वे चाहे आंतरिक हों या बाह्य, मार्ग तय नहीं कर सके, जो चेतना के उच्च तथा निम्न स्तर के मध्य संघर्षरत हैं, जिनकी सत्ता में मिश्रण है, गति पूर्णतः ऊर्ध्वमुखी नहीं हुई ; स्वार्थ, लोभ, मोह तथा भोगों की अंधकार भरी राहों पर भटक रहे हैं ; उनके लिए यह पुस्तक एक मार्गदर्शक के रूप में उपयोगी सिद्ध होगी। मूल्य : ४० रुपये। (अंग्रेजी में भी उपलब्ध)

मानव-जीवन का लक्ष्य, उसकी प्राप्ति के साधन, मानसिक चेतना का अतिक्रमण अर्थात् मानव का अतिमानव में उत्थान, इसकी प्रक्रिया, इसके स्वरूप का विवरण है– 'अतिमानस की ओर'।

मूल्य : ५० रुपये।

आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् आत्मा की परिपूर्णता का प्रवाह जीवन में संभव है। आत्मा की दिव्यता में मानव-सत्ता तथा जीवन का रूपान्तरण, उसका दिव्यीकरण अब एक प्रसंभावना ही नहीं वरन् संसार की भावी नियति है, पृथ्वी-तल पर एक अवश्यंभावी घटना है। इसी की चर्चा है 'रूपान्तर की ओर'। मूल्य : ५० रुपये।

प्राप्ति स्थान : **SABDA,** श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी – २
२. श्रीअरविन्द आश्रम, श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली –११००१६
३. श्रीअरविन्द चेतना समाज,६५६२/९ चमेलियन रोड, दिल्ली–६